गद्य में सुव्यवस्थित रूप से अपने मनोभावों की व्यञ्जना कर सकना मानवजीवन के सौंदर्य का एक अङ्ग है, उसकी श्रेष्ठता का साधन है। विद्यार्थी-जीवन में इस अभिव्यञ्जना की प्राप्ति का बहुत कुछ श्रेय कुशल अध्यापक के हाथ रहता है, फिर भी आदर्शों का प्रभाव अचूक होता है। रचना का यह अङ्ग ही भाषा और साहित्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस संग्रह में ऐसे ही लेखकों की कृतियों के अंश हैं जिनके लेखों में उनके मनोवेगों का प्रकाश और उनके हृदय की अनुभूति दिखाई पड़ती है। अतः उनके अध्ययन के लिए केवल शब्दों के अर्थ जान लेने से ही काम न चलेगा, वरन् उनके प्रयोग, वाक्यों की योजना और उनके प्राणों की शक्ति का परिचय आवश्यक होगा। इसके बिना गद्य का अध्ययन तोता-रटन्त ही रहेगा। इस संग्रह के अन्त में कुछ असामान्य शब्दों तथा प्रयोगों का अर्थ वा भाव केवल इस दृष्टि से दिया गया है कि लेखकों द्वारा प्रयुक्त कुछ विशेष प्रयोगों का यथार्थ परिचय प्राप्त हो जाय। वास्तविक ज्ञान के लिए तो लेखों में आये हुए विचारों की व्याख्या करने अथवा रचना के भिन्न-भिन्न परिच्छेदों के सार लिखने या अपनी भाषा में रूपान्तर करने आदि का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। पाठों के अन्त में प्रश्नावली देना हम इन कक्षाओं के लिए सर्वथा अनावश्यक समझते हैं; क्योंकि उससे स्वाभाविक विकास की सीमा निर्धारित हो जाने का भय रहता है।

वक्तव्य

आधुनिक हिन्दी-गद्य के उत्कृष्ट उदाहरण हाईस्कूल कक्षा के विद्यार्थियों के सामने रखना इस संग्रह का प्रधान उद्देश है। इसलिए भाषा, भाव, शैली तथा विषय सभी का ध्यान रखते हुए लेखों का चुनाव किया गया है। हिन्दी के वर्तमान गद्य पर छाप लगानेवाले लेखकों के अतिरिक्त अन्य उदीयमान लेखकों के नमूने भी इसमें दिये गये हैं। विषय की दृष्टि से निबन्ध, कहानी, उपन्यास, नाटक, इतिहास, जीवनचरित, समालोचना, संवाद, व्यंग्य आदि विभिन्न उपयोगी अङ्गों का समावेश किया गया है। संग्रह को रोचक बनाने के लिए यद्यपि गद्य के विकास-क्रम के अनुसार लेखों को नहीं रक्खा गया तथापि टिप्पणी में प्रत्येक लेखक का परिचय, उसका समय, उसकी शैली की कुछ विशेषताएँ देकर उस ओर संकेत किया गया है। इस प्रकार विद्यार्थियों को विविध रचनाओं द्वारा आनन्द ही प्राप्त न होगा, वरन् वे स्वयं तुलना करके गद्य के विकास का सम्बन्ध स्थापित कर सकेंगे। उनके मस्तिष्क का विकास ही न होगा, वरन् उन ग्रन्थों को पढ़ने की अभिरुचि भी उनमें उत्पन्न होगी और उस उच्च साहित्यिक ज्ञान के लिए उत्तेजना मिलेगी जिसका अध्ययन वे विश्वविद्यालयों अथवा आगामी जीवन में करेंगे।

गद्य में सुव्यवस्थित रूप से अपने मनोभावों की व्यञ्जना कर सकना मानवजीवन के सौन्दर्य का एक अङ्ग है, उसकी श्रेष्ठता का साधन है। विद्यार्थी-जीवन में इस अभिव्यञ्जना की प्रगति का बहुत कुछ श्रेय कुशल अध्यापक के हाथ रहता है, फिर भी आदर्शों का प्रभाव अचूक होता है। रचना का यह अङ्ग ही भाषा और साहित्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस संग्रह में ऐसे ही लेखकों की कृतियों के अंश हैं जिनके लेखों में उनके मनोयोगों का प्रकाश और उनके हृदय की अनुभूति दिखाई पड़ती है। अतः उनके अध्ययन के लिए केवल शब्दों के अर्थ जान लेने से ही काम न चलेगा, वरन् उनके प्रयोग, वाक्यों की योजना और उनके प्राणों की शक्ति का परिचय आवश्यक होगा। इसके बिना गद्य का अध्ययन तोता-रटन्त ही रहेगा। इस संग्रह के अन्त में कुछ असामान्य शब्दों तथा प्रयोगों का अर्थ या भाव केवल इस दृष्टि से दिया गया है कि लेखकों द्वारा प्रयुक्त कुछ विशेष प्रयोगों का यथार्थ परिचय प्राप्त हो जाय। वास्तविक ज्ञान के लिए तो लेखों में आये हुए विचारों की व्याख्या करने अथवा रचना के भिन्न-भिन्न परिच्छेदों के सार लिखने या अपनी भाषा में रूपान्तर करने आदि का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। पाठों के अन्त में प्रश्नावली देना हम इन कक्षाओं के लिए सर्वथा अनावश्यक समझते हैं; क्योंकि उससे स्वाभाविक विकास की सीमा निर्धारित हो जाने का भय रहता है।

पाठों की सामयिकता, उपादेयता, सुरुचिसम्पन्नता तथा बोधगम्यता पर पूर्ण ध्यान रखते हुए भी हमने हाईस्कूल कक्षाओं की कोटि तथा हिन्दी की भविष्योन्नति का लक्ष्य सामने रक्खा है। आशा है कि यह संग्रह पाठकों को भाषा और साहित्य के सत्पथ पर ले जाने में समर्थ होगा और सत्साहित्य का अध्ययन करने में उनकी रुचि उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी।

—गोकुलचन्द शर्मा

विषय-सूची

टिप्पणी (पृष्ठ १ से २१ तक)

हिन्दी-गद्य-तरङ्गिणी

(१) जगत् में सबसे उत्तम और अवश्य जानने योग्य कौन है ?

ईश्वर को कोई आँख से नहीं देख सकता, किन्तु हममें से हर एक व्यक्ति मन को पवित्र कर विमल बुद्धि से ईश्वर को देख सकता है। इसलिए जो लोग ईश्वर को मन की आँखों (बुद्धि) से देखना चाहते हैं, वे अपने शरीर और मन को पवित्र करें और बुद्धि को विमल करके ईश्वर की खोज करें।

हमारे सामने, जन्म से लेकर शरीर छूटने के समय तक, बड़े-बड़े ऐसे चित्र-विचित्र दृश्य दिखाई देते हैं जो हमारे मनों में इस बात के जानने की बड़ी उत्कण्ठा उत्पन्न करते हैं कि वे कैसे उपजते और कैसे विलीन हो जाते हैं। हम प्रतिदिन देखते हैं कि प्रातःकाल पौ फटते ही सहस्र किरणों से विभूषित सूर्य-मण्डल पूर्व दिशा में प्रकट होता है और आकाश-मार्ग से विचरता हुआ सारे जगत् को प्रकाश, गर्मी और जीवन पहुँचाता तथा सायङ्काल पश्चिम दिशा में पहुँचकर नेत्रपथ से परे हो जाता है। गणित-शास्त्र के जाननेवालों ने गणना कर यह

ऋतु में यदि सूर्य तीव्र-रूप से नहीं तपता तो वर्षाकाल में वर्षा अच्छी नहीं होती। यह भी प्रत्यक्ष है कि यदि वर्षा न हो तो जगत् में प्राणिमात्र के भोजन के लिए अन्न और फल न हों। इससे हमको स्पष्ट दिखाई देता है कि अनेक प्रकार के अन्न और फल द्वारा सारे जगत् के प्राणियों के भोजन का प्रबन्ध मरीचिमाली सूर्य के द्वारा हो रहा है। क्या यह प्रबन्ध किसी विवेकवती शक्ति का रचा हुआ है, जिसको स्थावर-जङ्गम सब प्राणियों को जन्म देना और पालना अभीष्ट है अथवा यह केवल जड़ पदार्थों के अचानक संयोग मात्र का परिणाम है? क्या यह परम आश्चर्यमय गोलक-मण्डल अपने आप जड़ पदार्थों के एक दूसरे के खींचने के नियम मात्र से उत्पन्न हुआ है और अपने-आप आकाश में वर्ष से वर्ष, सदी से सदी, युग से युग घूम रहा है अथवा इसके रचने और नियम से चलाने में किसी चेतन शक्ति का हाथ है? बुद्धि कहती है कि है; वेद भी कहते हैं कि है। वे कहते हैं कि सूर्य और चन्द्रमा को, आकाश और पृथ्वी को परमात्मा ने रचा।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि प्राणात्मक जगत् की रचना इस बात की घोषणा करती है कि इस जगत् का रचनेवाला एक ईश्वर है। यह चैतन्य जगत् अत्यन्त आश्चर्य से भरा हुआ है। जरायु से उत्पन्न होनेवाले मनुष्य, सिंह, हाथी, घोड़े, गौ आदि; अण्डों से उत्पन्न होनेवाले पक्षी; पसीने और मैल से उत्पन्न होनेवाले कीड़े; पृथिवी को फोड़कर उगनेवाले वृक्ष—इन

निश्चय किया है कि सूर्य पृथिवी से नौ करोड़ अट्ठाईस लाख तीस सहस्र मील की दूरी पर है। कितने आश्चर्य की बात है कि यह इतनी दूरी से इस पृथिवी के सब प्राणियों को प्रकाश, गर्मी और जीवन पहुँचाता है! ऋतु-ऋतु में अपनी सहस्र किरणों से पृथिवी से जल को खींचकर सूर्य आकाश में ले जाता, और वहाँ से मेघ का रूप बनाकर फिर पृथिवी पर बरसा देता है। और, उसके द्वारा सब घास, पत्ते, वृक्ष, अनेक प्रकार के अन्न और समस्त जीवधारियों को प्राण तथा जीवन देता है। गणित-शास्त्र बतलाता है कि जैसा यह एक सूर्य है ऐसे-ऐसे असंख्य और हैं और इससे बड़े-बड़े भी हैं, जो सूर्य से भी अधिक दूर होने के कारण हमको छोटे-छोटे तारों के समान दिखाई देते हैं। सूर्य के अस्त होने पर प्रतिदिन हमको आकाश में अनगिनत तारे-नक्षत्र-ग्रह चमकते दिखाई देते हैं। सारे जगत् को अपनी किरणों से सुख देनेवाला चन्द्रमा अपनी शीतल चाँदनी से रात्रि को ज्योतिष्मती करता हुआ आकाश में, सूर्य के समान, पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा को जाता है। प्रतिदिन रात्रि के आते ही दसों दिशाओं को प्रकाशित करती हुई नक्षत्र-तारा-ग्रहों की ज्योति ऐसी शोभा धारण करती है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। ये सब तारा-ग्रह सूत में बँधे हुए गोलकों के समान अलङ्घनीय नियमों के अनुसार दिन से दिन, महीने से महीने, वर्ष से वर्ष बँधे हुए मार्गों में चलते हुए आकाश में घूमते दिखाई देते हैं। यह प्रत्यक्ष है कि गर्मी की

ऋतु में यदि सूर्य तीव्र-रूप से नहीं तपता तो वर्षाकाल में वर्षा अच्छी नहीं होती। यह भी प्रत्यक्ष है कि यदि वर्षा न हो तो जगत् में प्राणिमात्र के भोजन के लिए अन्न और फल न हों। इससे हमको स्पष्ट दिखाई देता है कि अनेक प्रकार के अन्न और फल द्वारा सारे जगत् के प्राणियों के भोजन का प्रबन्ध मरीचिमाली सूर्य के द्वारा हो रहा है। क्या यह प्रबन्ध किसी विवेकवती शक्ति का रचा हुआ है, जिसको स्थावर-जङ्गम सब प्राणियों को जन्म देना और पालना अभीष्ट है अथवा यह केवल जड़ पदार्थों के अचानक संयोग मात्र का परिणाम है? क्या यह परम आश्चर्यमय गोलक-मण्डल अपने आप जड़ पदार्थों के एक दूसरे के खींचने के नियम मात्र से उत्पन्न हुआ है और अपने-आप आकाश में वर्ष से वर्ष, सदी से सदी, युग से युग घूम रहा है अथवा इसके रचने और नियम से चलाने में किसी चेतन शक्ति का हाथ है? बुद्धि कहती है कि है; वेद भी कहते हैं कि है। वे कहते हैं कि सूर्य और चन्द्रमा को, आकाश और पृथ्वी को परमात्मा ने रचा।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि प्राणात्मक जगत् की रचना इस बात की घोषणा करती है कि इस जगत् का रचनेवाला एक ईश्वर है। यह चैतन्य जगत् अत्यन्त आश्चर्य से भरा हुआ है। जरायु से उत्पन्न होनेवाले मनुष्य, सिंह, हाथी, घोड़े, गौ आदि; अण्डों से उत्पन्न होनेवाले पक्षी; पसीने और मैल से उत्पन्न होनेवाले कीड़े; पृथिवी को फोड़कर उगनेवाले वृक्ष—इन

सबकी उत्पत्ति, रचना और इनका जीवन परम आश्चर्यमय है। नर और नारी के समागम में नर का अत्यन्त सूक्ष्म किन्तु चैतन्य अंश गर्भ में प्रवेश कर नारी के एक अत्यन्त सूक्ष्म सचेत अंश से मिल जाता है। इसको हम जीव कहते हैं। वेद कहते हैं कि—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥

अर्थात् एक बाल के, आगे के भाग के, खड़े-खड़े सौ भाग कीजिए और उनमें से एक के फिर सौ खड़े-खड़े टुकड़े कीजिए। इसमें से एक टुकड़ा लीजिए तो आपके ध्यान में आवेगा कि जीव कितना सूक्ष्म है। यह जीव गर्भ में प्रवेश करने के समय से शरीर रूप से बढ़ता है। विज्ञान के जाननेवाले विद्वानों ने अणुवीक्षण यन्त्र से देखकर बताया है कि मनुष्य के वीर्य के एक बिन्दु में लाखों जीवाणु होते हैं और उनमें से एक ही गर्भ में प्रवेश पाकर टिकता और वृद्धि पाता है। नारी के शरीर में ऐसा प्रबन्ध किया गया है कि यह जीव गर्भ में प्रवेश पाने के समय से एक नली के द्वारा आहार पावे, इसकी वृद्धि के साथ-साथ नारी के गर्भ में एक जल से भरा थैला बनता जाता है, जो गर्भ को चोट से बचाता है। इस सूक्ष्म से सूक्ष्म, अणु से अणु, बाल के अगले भाग के दस हज़ारवें भाग के समान सूक्ष्म वस्तु में यह शक्ति कहाँ से आती है जिससे यह धीरे-धीरे अपने माता और पिता के समान रूप, रङ्ग और सब अव-

यवों को धारण कर लेता है ? कौन सी शक्ति है जो गर्भ में इसका पालन करती और इसको बढ़ाती है ? वह क्या अद्भुत रचना है जिससे बच्चे के उत्पन्न होने के थोड़े समय पूर्व ही माता के स्तनों में दूध आ जाता है ? कौन सी शक्ति है जो सब असंख्य प्राणधारियों को, सब मनुष्यों को, सब पशु-पक्षियों को, सब कीट-पतङ्गों को, सब पेड़-पल्लवों को पालती और उनको समय से चारा-पानी पहुँचाती है ? कौन सी शक्ति है जिससे चींटियाँ दिन में भी और रात में भी सीधी भीत पर चढ़ती चली जाती हैं ? कौन सी शक्ति है जिससे छोटे से छोटे और बड़े से बड़े पक्षी अनन्त आकाश में दूर से दूर तक बिना किसी आधार के उड़ा करते हैं ?

नरों और नारियों की, मनुष्यों की, गौओं की, सिंहों की, हाथियों की, पक्षियों की और कीड़ों की सृष्टि कैसे होती है ? मनुष्यों से मनुष्य, सिंहों से सिंह, घोड़ों से घोड़े, गौओं से गौ, मयूरों से मयूर, हंसों से हंस, तोतों से तोते, कबूतरों से कबूतर, अपने-अपने माता-पिता के अवयव लिये हुए कैसे उत्पन्न होते हैं ? छोटे से छोटे बीजों से किसी अचिन्त्य शक्ति से बढ़ाये हुए बड़े और छोटे असंख्य वृक्ष उगते हैं तथा प्रतिवर्ष और बहुत वर्षों तक पत्ती, फूल-फल, रस, तैल, छाल और लकड़ी से जीवधारियों को सुख पहुँचाते, सैकड़ों सहस्रों स्वादु, रसीले फलों से उनको तृप्त और पुष्ट करते, बहुत वर्षों तक श्वास लेते, पानी पीते, पृथिवी और आकाश से आहार खींचते, आकाश के नीचे झूमते लहराते रहते हैं।

इस आश्चर्यमय शक्ति की खोज में हमारा ध्यान मनुष्य के रचे हुए एक घर की ओर जाता है। हम देखते हैं कि सामने यह एक घर बना हुआ है। इसमें भीतर जाने के लिए एक बड़ा द्वार है। इसमें अनेक स्थानों में पवन और प्रकाश के लिए खिड़कियाँ तथा झरोखे हैं। भीतर बड़े-बड़े खम्भे और दालान हैं। धूप और पानी रोकने के लिए छतें और छज्जे बने हुए हैं। दालान-दालान में, कोठरी-कोठरी में भिन्न-भिन्न प्रकार से मनुष्य को सुख पहुँचाने का प्रबन्ध किया गया है। घर के भीतर से पानी को बाहर निकालने के लिए नालियाँ बनी हुई हैं। ऐसे विचार से घर बनाया गया है कि रहनेवालों को प्रत्येक ऋतु में सुख देवे। इस घर को देखकर हम कहते हैं कि इसका रचनेवाला कोई चतुर पुरुष था, जिसने रहनेवालों के सुख के लिए जो-जो प्रबन्ध आवश्यक था, उसको विचारकर घर बनाया। हमने रचनेवाले को देखा भी नहीं, तो भी हमको निश्चय होता है कि घर का रचनेवाला कोई था या है और वह ज्ञानवान्, विचारवान् पुरुष है।

अब हम अपने शरीर की ओर देखते हैं। हमारे शरीर में भोजन करने के लिए मुँह बना है। भोजन चबाने के लिए दाँत हैं। भोजन को पेट में पहुँचाने के लिए गले में नली बनी है। उसी के पास पवन के मार्ग के लिए एक दूसरी नली बनी हुई है। भोजन को रखने के लिए उदर में स्थान बना है। भोजन पचकर रुधिर का रूप धारण करता है। वह हृदय

में जाकर इकट्ठा होता है और वहाँ से सिर से पैर तक सब नसों में पहुँचकर मनुष्य के सम्पूर्ण अङ्ग को शक्ति, सुख और शोभा पहुँचाता है। भोजन का जो अंश शरीर के लिए आवश्यक नहीं है उसके, मल होकर, बाहर जाने के लिए मार्ग बना है। दूध, पानी या अन्य रस का जो अंश शरीर को पोसने के लिए आवश्यक नहीं है, उसके निकलने के लिए दूसरी नाली बनी हुई है। देखने के लिए हमारी दो आँखें, सुनने के लिए दो कान, सूँघने को नासिका के दो रन्ध्र और चलने-फिरने के लिए हाथ-पैर बने हैं। सन्तान की उत्पत्ति के लिए जनन-इन्द्रियाँ हैं। यह परम आश्चर्यमय रचना क्या केवल जड़ पदार्थों के संयोग से हुई है या इसके जन्म देने और वृद्धि में, हमारे घर के रचयिता के समान किन्तु उससे अनन्तगुण अधिक, किसी ज्ञानवान, विवेकवान, शक्तिमान् आत्मा का प्रभाव है?

इसी विचार में डूबते-उतराते हुए हम अपने मन की ओर ध्यान देते हैं तो देखते हैं कि हमारा मन भी एक आश्चर्यमय वस्तु है। इसकी—हमारे मन की—विचार-शक्ति, कल्पना-शक्ति, गणना-शक्ति, रचना-शक्ति, स्मृति, धी, मेधा सब हमको चकित करती हैं। इन शक्तियों से क्या-क्या ग्रन्थ लिखे गये हैं, कैसे-कैसे काव्य रचे गये हैं, क्या-क्या विज्ञान निकाले गये हैं, क्या क्या आविष्कार किये गये और किये जा रहे हैं—यह थोड़ा आश्चर्य नहीं उत्पन्न करता। हमारी बोलने की और गाने की शक्ति भी हमको आश्चर्य में डुबा देती है। यह प्रयोजनवती

रचना सृष्टि में सर्वत्र दिखाई पड़ती है और यह रचना ऐसी है कि जिसके अन्त तथा आदि का पता नहीं चलता। इस रचना में एक-एक जाति के शरीरियों के अवयव ऐसे नियम से बैठाये गये हैं कि सारी सृष्टि शोभा से पूर्ण है। हम देखते हैं कि सृष्टि के आदि से सारे जगत् में एक कोई अद्भुत शक्ति काम कर रही है जो सदा से चली आई है, सर्वत्र व्याप्त और अविनाशी है।

हमारी बुद्धि विवश होकर इस बात को स्वीकार करती है कि ऐसी ज्ञानात्मिका रचना का कोई आदि, सनातन, अज, अविनाशी, सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप, जगत्-व्यापक, अनन्त शक्ति-सम्पन्न रचयिता है। उसी एक अनिर्वचनीय शक्ति को हम ईश्वर, परमेश्वर, परब्रह्म, नारायण, भगवान् वासुदेव, शिव, राम, कृष्ण, विष्णु, जिहोवा, गॉड, खुदा, अल्लाह आदि सहस्रों नामों से पुकारते हैं।

—मदनमोहन मालवीय

(२) आशीर्वाद

तीसरे पहर का समय था। दिन जल्दी-जल्दी ढल रहा था और सामने से सन्ध्या फुर्ती के साथ पाँव बढ़ाये चली आती थी। शर्मा महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिल-बट्टे से भङ्ग रगड़ी जा रही थी। मिर्च-मसाला साफ़ हो रहा था, बादाम-इलायची के छिलके उतारे जाते थे, नागपुरी नारङ्गियाँ छील छीलकर रस निकाला जाता था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं। तबियत भुरभुरा उठी। इधर भङ्ग उधर घटा, बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं। अँधेरा छाया, बूँदें गिरने लगीं, साथ ही तड़-तड़ धड़-धड़ होने लगी, देखो ओले गिर रहे हैं। ओले थमे, कुछ वर्षा हुई, बम् भोला कहकर शर्माजी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लालडिग्गी पर बड़े लाट मिंटो ने बङ्ग देश के भूतपूर्व छोटे लाट उडबर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में ये दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशम्भु शर्मा के बरामदे की छत पर बूँदें गिरती थीं, और लार्ड मिंटो के सिर या छाते पर।

भङ्ग छानकर महाराजजी ने खटिया पर लम्बी तानी। कुछ काल सुषुप्ति के आनन्द में निमग्न रहे। अचानक धड़-

धड़, तड़-तड़ के शब्द ने कानों में प्रवेश किया। आँखें मलते उठे। वायु के झोंकों से किवाड़ पुर्ज़े-पुर्ज़े हुआ चाहते थे। बरामदे की टीनों पर तड़ातड़ के साथ ठनाका भी होता था। एक दर्वाज़े के किवाड़ खोलकर बाहर की ओर झाँका तो हवा के झोंकों ने दस-बीस बूँदों और दो-चार ओलों शर्माजी के श्रीमुख का अभिषेक किया। कमरे के अन्दर ओलों की एक बौछाड़ पहुँची। फुर्ती से किवाड़ बन्द किये तथापि एक शीशा चूर हुआ। इतने में ठन-ठन करके द बजे। शर्माजी फिर चारपाई पर लम्बायमान हुए। क टीन और ओलों के सम्मिलन की टनाटन का मधुर शब्द सुनने लगे, आँखें और हाथ-पाँव सुख में थे, पर विचार के घो को विश्राम न था। वह ओलों की चोट से बाजुओं बचाता हुआ परिन्दों की तरह इधर-उधर उड़ रहा था गुलाबी नशे में विचारों का तार बँधा कि बड़े लाट फुर्ती अपनी कोठी में घुस गये होंगे और दूसरे अमीर भी अपने अपने घरों में चले गये होंगे पर वह चील कहाँ ग होगी?......हा, शिवशम्भु को इन पक्षियों की चिन्ता है, प यह नहीं जानता कि इस अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर में सहस्रों अभागे रात बिताने को झोपड़ी भी नहीं रखते। इस समय सहस्रों अट्टालिकायें शून्य पड़ी हैं।

ध्यान की ध्यान में विचार बदला, नशा उड़ा, हृदय पर दुर्बलता आई। भारत! तेरी वर्तमान दशा में हर्ष को अधिक

ऐसे स्थिरता कहाँ? प्यारी भङ्ग! तेरी कृपा से कभी कुछ काल के लिए चिन्ता दूर हो जाती है। इसी से तेरा सहयोग अच्छा समझा है। नहीं तो यह अधबूढ़ा भङ्गड़, क्या सुख का भूखा है। घावों से चूर जैसे नींद में पड़कर अपने कष्ट भूल जाता है अथवा स्वप्न में अपने को स्वस्थ देखता है, तुझे पीकर शिवशम्भु भी वैसे ही कभी अपने कष्टों को भूल जाता है।

चिन्ता-स्रोत दूसरी ओर फिरा। विचार आया कि काल अनन्त है, जो बात इस समय है वह सदा न रहेगी। इससे एक समय अच्छा भी आ सकता है। जो बात आज आठ-आठ आँसू रुलाती है वही किसी दिन बड़ा आनन्द उत्पन्न कर सकती है। एक दिन ऐसी ही काली रात थी। इससे भी घोर अँधेरी भादों कृष्णा अष्टमी की अर्द्धरात्रि, चारों ओर घोर अन्धकार—वर्षा होती थी, बिजली कौंदती थी, घन गरजते थे। यमुना उत्ताल तरङ्गों में बह रही थी। इस समय में एक दृढ़ पुरुष एक सद्यजात शिशु को गोद में लिये मथुरा के कारागार से निकल रहा था......वह और कोई नहीं थे, यदुवंशी महाराज वसुदेव थे और नवजात शिशु कृष्ण। वही बालक आगे कृष्ण हुआ, ब्रज-प्यारा हुआ, माँ-बाप की आँखों का तारा हुआ, यदुकुल-मुकुट हुआ, उस समय की राजनीति का अधिष्ठाता हुआ। जिधर वह हुआ उधर विजय हुई। जिसके विरुद्ध हुआ, पराजय हुई। वही

हिन्दुओं का सर्वप्रधान अवतार हुआ और शिवशम्भु शर्मा का इष्टदेव। वह कारागार भारत-सन्तान के लिए तीर्थ हुआ। वहाँ की धूलि मस्तक पर चढ़ाने के योग्य हुई।

"बर ज़मीने कि निशाने कफ़ेपाये तो बुवद।
सालहा सिजदये साहिब नज़रां ख़्वाहद बूद॥*

तब तो जेल बुरी जगह नहीं है।

—बालमुकुन्द गुप्त

---

* जिस भूमि पर तेरा पद चिह्न है उस पर दृष्टिवाले सैकड़ों वर्ष तक अपना मस्तक टेकेंगे।

(३) अनाथ बालिका

(१)

पण्डित राजनाथ, एम० डी० का व्यवसाय साधारण नहीं है। शहर के छोटे-बड़े—अमीर-ग़रीब—सभी उनको अपनी बीमारी में बुलाते हैं। इसके कई कारण हैं। एक तो आप साधु पुरुष हैं; दूसरे बड़े स्पष्ट-वक्ता हैं; तीसरे सदाचार की मूर्त्ति हैं। चालीस वर्ष की अवस्था हो जाने पर भी आपने अपना विवाह नहीं किया। ईश्वर की कृपा से आपके पास रुपये और मान की कमी नहीं। अतुल धन और अमित सम्मान के अधिकारी होने पर भी आप बड़े जितेन्द्रिय, निरभिमान और सदाचारी हैं। गोरखपुर में आपको डाक्टरी शुरू किये सिर्फ़ सात ही वर्ष हुए हैं; पर शहर के छोटे-बड़े सबकी ज़बान पर राजा-बाबू का नाम इस तरह चढ़ गया है मानों वे जन्म से ही वहाँ के निवासी हैं। आपका क़द ऊँचा, शरीर छरेरा और चेहरा कान्ति-पूर्ण गोरा है। मरीज़ से बात-चीत करते ही उसकी तकलीफ़ आप कम कर देते हैं। इस कारण साधारण लोग आपको जादूगर तक समझते हैं। आपके परिवार में सिर्फ़ वृद्धा माता हैं। एक भानजे का भरण-पोषण भी आप ही करते हैं। भानजा सतीश कालेज में पढ़ता है।

डाक्टर राजा-बाबू ने अनेक मरीज़ों से फ़ारिग़ होकर आज का दैनिक उठाया ही था कि उनके सामने एक ११-१२ वर्ष की निरीह बालिका, आँखों में आँसू भरे हुए, आ खड़ी हुई। डाक्टर साहब समझ गये कि इस बालिका पर कोई भारी विपत्ति आई है। उन्होंने दैनिक को मेज़ पर रखकर बड़े स्नेह के साथ उससे पूछा—

"बेटी क्यों रोती हो?"

"डाक्टर साहब कहाँ हैं, मैं उनके पास आई हूँ। मेरी माँ का बुरा हाल है।"

"मैं ही डाक्टर हूँ। तुम्हारी माँ को क्या शिकायत है?"

"डाक्टर साहब! मेरी माँ को बड़े ज़ोर का बुख़ार चढ़ा है। तीन दिन से वह बेहोश थी। आज कुछ होश हुआ है, तो आपको बुलाने के लिए भेजा है। हमारा घर बहुत दूर नहीं है। आप चलकर देख लीजिए।"

"मैं अभी चलता हूँ। तुम घबराओ मत। ईश्वर तुम्हारी माँ को नीरोग कर देगा।"

डाक्टर साहब अपना हैंड-बेग उठाकर लड़की के साथ पैदल ही चल दिये। लड़की के मना करने पर भी उन्होंने नहीं माना और कहा—"तुम्हारा मकान बहुत क़रीब है। मैं भी प्रातःकाल से गाड़ी में बैठे-बैठे थक सा गया हूँ। इसलिए थोड़ी दूर पैदल चलने को तबियत चाहती है।"

डाक्टर साहब पेंचदार गलियों से निकलते हुए एक बहुत छोटे मकान में दाख़िल हुए। मकान की अवस्था देखते ही डाक्टर साहब ने समझ लिया कि इसमें रहनेवालों पर चिर-काल से लक्ष्मीजी का कोप मालूम होता है। उन्होंने मकान के भीतर जाकर देखा कि एक छप्पर के नीचे, चारपाई पर, लड़की की माँ लिहाफ़ ओढ़े लेटी हुई है। आँगन में नीम का एक पेड़ है। उसके पत्तों से आँगन भर रहा है। मालूम होता है कि कई दिनों से घर में झाड़ू तक नहीं लगाई गई। लड़की ने अपनी माँ की चारपाई के पास पहले से ही एक मूँढ़ा बिछा रक्खा था, क्योंकि उसने अपनी माँ से सुना था कि कोई भी ग़रीब आदमी डाक्टर साहब के घर से निराश नहीं लौटाया जाता। डाक्टर साहब मूँढ़े पर बैठ गये। लड़की ने माँ के कान में ज़ोर से आवाज़ दी कि डाक्टर साहब आ गये। माँ ने मुँह पर से लिहाफ़ उठाया। यद्यपि बीमारी की तकलीफ़ के कारण उसके चेहरे पर उदासी छाई हुई थी, तथापि उस उदासी के अन्दर से भी डाक्टर साहब ने उसके हृदय की पवित्रता और मानसिक दृढ़ता की निर्मल किरणों को छनते हुए देखा। उन्होंने यह भी जान लिया कि भगवान् अदृष्ट के कोप से यद्यपि यह रोगिणी इस छोटे से मकान में टूटे-फूटे सामान के साथ रहने को विवश कर दी गई है, किन्तु एक दिन यह ज़रूर अच्छे घर और बड़े सामान के साथ किसी सुयोग्य पति के हृदय की अधिकारिणी रही होगी। रोगिणी

उसे सुन लीजिए। सरला—जो आपके पीछे खड़ी हुई है—मेरी एकमात्र कन्या है। यह अब अनाथ होती है। इसको मैं आपके सिपुर्द करती हूँ। इसका विवाह मैं न कर सकी। इसी लिए मुझे आपसे इतनी बड़ी भिक्षा माँगनी पड़ी। यह घर के काम-काज में होशियार है। जो कुछ मैं जानती थी और बता सकती थी, उसकी शिक्षा मैंने इसको दे दी है। यह आपकी सेवा करेगी। मुझे पूर्ण आशा है कि यह आप को प्रसन्न रक्खेगी। समय आने पर आप इसका किसी पढ़े-लिखे ब्राह्मण-वर के साथ विवाह कर दें। बस मेरी यही प्रार्थना है। और हाँ, यह एक पैकट है, जिसमें दो लिफ़ाफ़े हैं। इनको आप मेरी मृत्यु के एक वर्ष बाद जब चाहें पढ़ें। उनमें मेरा परिचय है—जिसको बताने की और आपको जानने की इस समय ज़रूरत नहीं। दूसरों का उपकार करनेवाले सदा सङ्कट में ही रहते हैं। आप भी परोपकार-रत हैं। इसलिए आपको भी बे-वास्ते इन सङ्कटों में पड़ना पड़ा।"

इस प्रकार कहते-कहते उसका गला भर आया।

राजा-बाबू ने उत्तर दिया—

"माँजी, मैं आपकी आज्ञा को सहर्ष स्वीकार करता हूँ। मैं आपकी कन्या को सन्तान-वत् रक्खूँगा। मेरे घर में कोई बालक नहीं। माताजी सरला को पाकर यथार्थ में बहुत प्रसन्न होंगी। समय आने पर मैं इसका विवाह भी कर दूँगा। पर आप इतना निराश क्यों होती हैं। मुझे आशा है, आप अच्छी हो जायँगी।"

इसके बाद डाक्टर साहब ने रोगिणी की नब्ज़ आदि देखी। देखने से डाक्टर साहब को मालूम हो गया कि रोगिणी का रोग-विषयक बयान बहुत कुछ ठीक है।

उसी दिन शाम को रोगिणी इस संसार से चल बसी।

(२)

विस्मृति भी बड़े काम की चीज़ है। यह न होती तो मनुष्य का जीवन बहुत बुरा हो जाता। जन्म लेकर आज तक हमको जिन-जिन दुःखों, क्लेशों और सङ्कटों का सामना करना पड़ा है वे सब के सब यदि हर समय हमारी आँखों के सामने खड़े रहते, तो हमारा जीवन भयानक हो जाता। अकेली विस्मृति ही उनसे हमारी रक्षा करती है।

सरला ने मातृ-वियोग को सह लिया। माता की याद धीरे-धीरे विस्मृति के गर्भ में छिपने लगी। अब उसकी जीवन-पुस्तक का एक नया, पर चमचमाता हुआ, पृष्ठ खुला। छोटे से झोपड़े से निकलकर महल को मात करनेवाले डाक्टर राजाबाबू के मकान में प्रवेश किया। माता की छत्रच्छाया उठ गई, डाक्टर की वृद्धा माता की गोद का आश्रय मिला। पर उसमें भी उसने वही स्नेह-रस-परिप्लुत अभय-दान पाया।

सरला ने पहले तो कुछ सङ्कोच अनुभव किया। पर अन्नपूर्णा की ममता-पूर्ण और डाक्टर साहब की स्नेह-भरी बातों ने उसको बता दिया कि वह मानों अपने ही घर में है।

डाक्टर साहब ने सरला की शिक्षा का भी समुचित प्रबन्ध कर दिया।

सरला भी डाक्टर साहब की यथा-शक्य सेवा करने लगी। पर नौकरों की तरह नहीं, घर के बच्चे की तरह। वह डाक्टर साहब को अपने हाथ से भोजन कराती। अन्न-पूर्णाजी यद्यपि अपने वेदोपम पुत्र के लिए स्वयं ही भोजन तैयार करतीं, पर सरला फिर भी उनको कुछ कम सहायता न देती। सरला को धीरे-धीरे पाक-शास्त्र की शिक्षा मिलने लगी। वृद्धा अन्नपूर्णा के निरीक्षण में वह निरामिषभोजी डाक्टर साहब के लिए अनेक प्रकार के शाक, खीर, हलुआ आदि सु-स्वादु और पौष्टिक पदार्थ बनाने लगी। प्रातःकाल होते ही, अन्नपूर्णा की पूजा का सामान भी वह ठीक कर देती। घर के बग़ीचे से फूल लाकर सजा देती और चन्दन आदि सामग्री यथा-स्थान रख देती। अपनी सेवा और सु-स्वभाव से—मतलब यह कि—सरला ने डाक्टर साहब और उनकी वृद्धा माता के हृदय में सन्तान से बढ़कर स्नेह पैदा कर लिया।

बड़े दिन की छुट्टियों में सतीश घर आया। उसने देखा कि घर में एक देवी-स्वरूपिणी कन्या रहती है। उसके आलोक से उसने मानों सारा मकान आलोकित पाया। मामा से पूछने पर उसको मालूम हुआ कि वह भी उनकी एक आत्मीया है और कुछ दिनों तक उनके यहाँ रहने के लिए चली आई

है। दो-चार दिन तक सतीश को उसके साथ बातचीत करने में सङ्कोच सा मालूम हुआ। उधर सलज्जा सरला भी एक नये आदमी के साथ बातचीत करने में झिझकती रही। पर कुछ ही दिनों में दोनों की तबियतें खुल गईं। फिर तो वे आपस में खूब आलाप करने लगे। सतीश ने सरला से उसका कभी परिचय न पूछा। क्योंकि वह मामाजी की बात को वेद भगवान् की बात समझता था। सरला ने भी अपना प्रकृत परिचय देने की आवश्यकता न समझी। इसमें सन्देह नहीं कि सरला की योग्यता, गृहकार्य्य-कुशलता और उसके पवित्रता-पूर्ण आचरण पर सतीश मन से मुग्ध हो गया। सरला भी सतीश के कामों का बड़ा ध्यान रखती। सतीश प्रायः देखता कि उसके कपड़े तह किये हुए यथा-स्थान रक्खे हैं, वह अपने पढ़ने की पुस्तकें भी—जिनको वह इधर-उधर बिखरी और खुली हुई छोड़ गया था—बन्द की हुई और चुनी हुई पाता। छुट्टियों के अत्यल्प काल में ही सरला ने उसके हृदय में स्थान कर लिया। उसको न मालूम क्यों हर समय सरला का ध्यान रहने लगा। वह अपने मन से भी इसका कारण कई दफ़े पूछकर कुछ उत्तर न पा सका था। परन्तु वह जाने या न जाने—और जानने की ज़रूरत भी नहीं—प्रेम-देव की पवित्र किरणों से उसका हृदयाकाश अवश्य ही आलोकित रहने लगा। वह कभी सरला को पढ़ाता—नीतियाँ नई-नई बातें बताता—और कभी घण्टों खाली इधर-उधर की

बातें ही करता। मतलब यह कि इन दोनों की मैत्री दिन पर दिन मज़बूत होने लगी। छुट्टियाँ समाप्त होने पर जब सतीश कालेज को जाने लगा तब उसे मकान छोड़ने में बड़ा मीठा दर्द-रूप मोह मालूम हुआ। पर वह तत्काल सँभल गया और हमेशा की तरह मामाजी और वृद्धा के चरण छूकर सरला से आँखों ही आँखों उसने विदा ली।

(३)

सतीश सेंट्रल हिन्दू-कालेज में पढ़ता है। इस वर्ष वह एम० ए० की अन्तिम परीक्षा देगा। सतीश बड़ा धार्मिक है। वैसे तो हर लड़के को, जो हिन्दू-कालेज के बोर्डिङ्ग-हाउस में रहता है, स्नान-ध्यान और धार्मिक कृत्य सम्पादन करने पड़ते हैं; किन्तु सतीश ने अपनी बाल्यावस्था के कुल वर्ष अपने मामा डाक्टर राजा-बाबू के साथ काटे हैं। इसलिए नित्य प्रातःकाल उठना, सन्ध्योपासन करना और परोपकार के लिए दत्त-चित्त रहना उसका स्वभाव सा हो गया है। सतीश छः वर्ष से इसी कालेज में पढ़ रहा है। वह अपने दैवी गुणों के लिए सब लड़कों में प्रसिद्ध है। हर एक लड़का, किसी न किसी रूप में, उसकी कृपा का पात्र बना है। अनेक कमज़ोर (शरीर में नहीं, पढ़ाई में) लड़कों ने उससे पढ़ा है; अनेक ग़रीब विद्यार्थियों की उसने आर्थिक सहायता की है। किसी लड़के के रोग-ग्रस्त होने पर सहोदरवत् उसने

उसकी शुश्रूषा भी की है। इसी लिए कालेज का हर लड़का उसको बड़ी पूज्य-दृष्टि से देखता है। सतीश के पासवाले कमरे में रामसुन्दर नामक एक लड़का रहता है। वह दो वर्ष से इस कालेज में पढ़ता है, पर है सतीश का सहाध्यायी ही। यह लड़का घर का मालदार होते हुए भी विद्या का बड़ा प्रेमी है। इसके पिता का हाल में स्वर्गवास हो गया है और यह बहुत बड़ी सम्पत्ति का मालिक हुआ है। पर, फिर भी, इसने पढ़ना नहीं छोड़ा। सतीश के साथ इसकी बड़ी घनिष्ठता है। सतीश और रामसुन्दर की प्रकृति अनेक अंशों में एक सी है। इसी लिए इन दोनों में खूब मित्रता है। सतीश और रामसुन्दर छुट्टी के समय प्रायः एक ही साथ रहते हैं।

सतीश और रामसुन्दर एक नाव पर बैठे हुए हैं। नाव पुण्यतोया भागीरथी में धीरे-धीरे बह रही है। ग्रीष्म-ऋतु की सन्ध्या है। बड़ा लुभावना दृश्य है। तारों का बिम्ब गङ्गा-जल में पड़कर अजीब बहार दिखा रहा है। सच तो यह है कि इस "शाम" के सामने "शामे लखनऊ" कुछ भी चीज़ नहीं। नाववाला बड़े मीठे स्वर में कोई गीत गा रहा है। उसकी आवाज़ गङ्गा के तट के अट्टालिका-सम ऊँचे स्थानों से टकराकर मानों कई गुनी होकर वापिस आ रही है। ये दोनों मित्र आपस में खूब घुल-घुलकर बातें कर रहे हैं। अन्त में सतीश ने कहा—

"मित्र, तुम्हारा हृदय बहुत विशाल है। इस बात को मैं स्वीकार करता हूँ। जहाँ तक मेरी शक्ति है, मैं तुमको इस

पुण्य-कार्य्य में सहायता दूँगा। तीन मास बाद कालेज बन्द होगा। उस समय तीन मास से अधिक का अवकाश मिलेगा। उसमें मैं तुम्हारे साथ रहूँगा। जहाँ तुम चलोगे, मैं चलूँगा। जहाँ तक पता चलेगा, मैं तुम्हारे मनोरथ के साफल्य के लिए प्रयत्न करूँगा। इस समय इस काम को ईश्वर के ऊपर छोड़ो। परीक्षा के दिन बहुत कम रह गये हैं। इसलिए सब ओर से मन हटाकर इसी ओर लगाना चाहिए। परीक्षा से निवृत्त होकर अपनी सब शक्तियाँ उधर लगावेंगे। मैं तुम्हारा साथ दूँगा।"

रामसुन्दर—"भाई सतीश, मुझे तुम्हारा बहुत भरोसा है। पूर्ण आशा है कि यदि तुम जैसे परोपकार-व्रती और देवोपम मित्र ने प्रयत्न किया तो मेरा यह कार्य्य, जिसके कारण मेरी निद्रा और मेरी भूख दोनों नष्ट हो गई हैं, ज़रूर सिद्ध हो जायगा। मित्र, तुलसीदासजी ने ठीक कहा है—

यद्यपि जग दारुण दुख नाना।
सब तें कठिन जाति अपमाना॥"

नाव धीरे-धीरे किनारे पर आ लगी और ये दोनों नवयुवक उससे उतरकर कालेज की ओर चल दिये।

(४)

सरला की माता को मरे दो वर्ष बीत गये। सरला निश्चिन्तता-पूर्वक डाक्टर-बाबू के यहाँ रहती है। उसको अपनी माता की याद आती है ज़रूर, पर डाक्टर और उनकी वृद्धा

माता के सद्व्यवहार से उसको कोई कष्ट नहीं। बल्कि यह कहना चाहिए कि कोई ऐसा सुख नहीं, जो उसको प्राप्त न हो। राजा-बाबू उसको अपनी ही पुत्री समझते हैं। उसने भी अपने गुणों से उनको ख़ूब प्रसन्न कर रक्खा है।

राजा-बाबू ने दो वर्ष बाद उस लिफ़ाफ़े को खोला, जिसको पढ़ने की आज्ञा सरला की माता, मरते समय, दे गई थीं। उसमें दो लिफ़ाफ़े थे। जिस पर नम्बर एक पड़ा था, उसको खोलकर डाक्टर साहब पढ़ने लगे। उसमें लिखा था—

"आप मेरे परम हितैषी हैं। जो ऐसा न होता तो यह लिफ़ाफ़ा आप न पढ़ते। अब तक यह कब का अग्निदेव के सिपुर्द हो चुका होता। आप मेरी कन्या के संरक्षक हैं। इस कारण मैं आपसे नीचे लिखा वृत्तान्त कहती हूँ। सुनिए—.

"मेरे पति दो भाई थे। पति की मृत्यु के बाद मेरे जेठ ने मुझसे अच्छा व्यवहार न किया। उन्होंने एक दिन क्रोध-वश मुझे मकान से निकल जाने तक की आज्ञा दे दी। मेरे पति ने मरते समय, बिना विचार किये ही, अपने भाई की आज्ञा का पालन करने का आदेश मुझे दिया था। इसलिए स्वर्ग-गत पतिदेव की आज्ञा का स्मरण करके मुझे अपने जेठ की अत्यन्त अनुचित और अकारण दी हुई आज्ञा को शिरोधार्य करना पड़ा। मैं अपनी एकमात्र कन्या को लेकर घर से निकल चली। ओफ़! कैसी भीषण रात्रि थी। उस समय के दुःख का हाल किसी भले और सम्मान्य घर की स्त्री के मन से ही

पूछना चाहिए। मेरे शरीर पर कुछ आभूषण थे। उन्हीं के सहारे मैं कई सौ मील की यात्रा करके यहाँ आई और एक साधारण सा मकान लेकर रहने लगी। मैंने जीवन भर प्रतिष्ठा के साथ अपना और अपनी प्यारी बेटी का पेट पाला। मैंने 'आन को रक्खा जान गँवाकर'। बस, मेरा यही रहस्य है। अब यदि आप मेरा पूरा परिचय प्राप्त करना चाहें, तो दूसरे लिफ़ाफ़े को खोलिए। उसमें आपको मेरे जेठ का लिखा हुआ एक रजिस्टर्ड इक़रारनामा मिलेगा। उसमें उन्होंने मेरे पति की सम्पत्ति को अपनी सम्पत्ति से अलग अर्थात् विभक्त बताया है। उसमें मेरे पतिदेव का पूरा पता भी प्रसङ्गवश आ गया है। उसको आप साधारण काग़ज़ न समझिए। उसके द्वारा मेरी एकमात्र कन्या सरला—ईश्वर उसे सानन्द रक्खे—एक दिन लाख रुपये से अधिक मूल्यवाली सम्पत्ति की अधिकारिणी बन सकती है। पर मैं नहीं चाहती कि उसका प्रयोग किया जाय। मुझे पूर्ण आशा है कि मेरी सरला अपने गुणों के कारण ही बहुत बड़ी सम्पत्ति की अधिकारिणी होगी।

(५)

जब डाक्टर राजनाथ ने सतीश के पत्र में यह पढ़ा कि वह परीक्षा देकर मकान पर न आवेगा, तब उनको बड़ी चिन्ता हुई। उसका विचार कुछ दिनों इधर-उधर घूमने का है और ख़र्च के लिए पाँच सौ रुपये उसने माँगे हैं। राजनाथ ने

पाँच सौ रुपये का नोट, नीचे लिखी चिट्ठी
पास भेज दिया—

"प्रिय सतीश,

मुझे बड़ा विस्मय है कि तुम किधर जा
माताजी तुमको देखने के लिए बड़ी व्यग्र हैं।
है कि तुम किसी अच्छे उद्देश्य से ही जा
भेजता हूँ। यथा-साध्य शीघ्र लौटना।

शुभ

पाँचवें-छठे दिन इसका उत्तर आ गया। उ

"पूज्य मामाजी, प्रणाम।

कृपापत्र और ५००) का नोट मिला।.
रामसुन्दर को आप जानते ही हैं। उनका
श्यक कार्य है, जिसमें वे मेरी सहायता चाहते
के लिए इधर-उधर घूमना पड़ेगा। मैं आपको
ही यह कार्य बता देता, जिसके लिए यह तैयार
गुप्त रखने के लिए उन्होंने ताकीद कर दी है
यदि आज्ञा दें, तो मैं उनके साथ चला जाऊँ।

पत्र को पढ़कर राजा-बाबू कुछ देर तक सोचते रहे। फिर उन्होंने नीचे लिखा हुआ प्रत्युत्तर अपने भानजे को भेजा—

"प्रिय सतीश,

मैं बड़ी प्रसन्नता से तुमको अपने मित्र के कार्य में सहायता देने की आज्ञा देता हूँ। खर्च के लिए जिस कदर रुपये की और ज़रूरत हो, निस्सङ्कोच मँगा लेना। यात्रा से लौटते समय अपने मित्र को भी एक दिन के लिए इधर लाना। उनको बहुत दिनों से मैंने नहीं देखा। देखने को तबियत चाहती है। आशा है, वे मेरी प्रार्थना स्वीकार करेंगे।

शुभैषी—

राजनाथ।"

राजा-बाबू ने पत्र समाप्त ही किया था कि सरला ने चाँदी की तश्तरी में कुछ तराशे हुए फल उनके सामने रख दिये। राजा-बाबू फल खाते-खाते सरला से इधर-उधर की बातें करने लगे।

(६)

गरमी की बड़ी छुट्टियों के ८-१० दिन बाक़ी हैं। सतीश ने अबकी बार छुट्टी के तीनों महीने बाहर ही काटे। कल उसकी चिट्ठी आई कि वह आज रात को रामसुन्दर सहित मकान पहुँचेगा। उसका कमरा साफ़ किया गया है। वृद्धा माता भी आज बड़ी ख़ुशी से भोजन बना रही हैं। सरला

उछलने लगती है और कभी किसी अज्ञात कारण से उसकी गति और भी कम पड़ जाती है। उसका मुख-सरोज घड़ी-घड़ी पर इन भावों के प्रसोदय के साथ खिलता और मुरझाता है। उसने यह भी सुना है कि सतीश के साथ उसके मित्र भी आवेंगे जिनके काम में उसने अपनी सारी छुट्टियाँ खर्च की हैं। सरला मन ही मन सतीश के मित्र पर नाराज़ भी है क्योंकि उसके कारण ही सतीश की छुट्टियों से वह फ़ायदा नहीं उठा सकी।

सतीश रात की ९ बजे की ट्रेन से मकान पहुँच गया। राजा-बाबू उसकी प्रतीक्षा कर ही रहे थे। उन्होंने बड़े प्रेम से रामसुन्दर को अपने पास बिठाया और बड़े आग्रह से पूछा—"मुझे आशा है, तुम अपनी चेष्टाओं में अवश्य सफल हुए होगे।" रामसुन्दर ने निराशा भरी आवाज़ में उत्तर दिया—"सफलता का कोई चिह्न नहीं मिला। भविष्यत् के लिए कोई आशा भी बाक़ी नहीं रही।" इस पर डाक्टर साहब ने उसे ढाढ़स देकर उसके चित्त-क्षोभ को बहुत कुछ कम कर दिया।

सतीश मामाजी के चरण छूकर अन्दर गया। सरला के देखते ही उसका मुख-कमल खिल उठा। उसने देखा कि उसके काम की हर चीज़ ठीक रक्खी हुई है और बड़ी सावधानता से उसके आने की बाट देखी जा रही है। सरला ने मुस्कराकर, पर ताने के साथ, पूछा—

"अबकी बार आपने कुल छुट्टियाँ बाहर ही बिता दीं ?"

"मित्र के काम के लिए यह सब करना पड़ा। पर कोई फल न हुआ। इसके लिए मुझे भी दुःख है।"

"आपके मित्र का ऐसा क्या काम था, जिसके लिए तीन महीने इधर-उधर घूमना पड़ा और फिर भी वह न हो सका ?"

"सरला! उस काम का ज़िक्र करने से भी मुझे दुःख होता है। इसलिए सुनकर तुम भी दुखी हुए बिना न रह सकोगी। भोजन की बात तो कहो। क्या देर है ? भूख लग रही है।"

"बिलकुल तैयार है। मैं जाकर नौकर से आसन बिछाने के लिए कहती हूँ। आप मामाजी और अपने मित्र को साथ लेकर आइए।"

यह कहकर सरला बड़ी फुर्ती से चली गई। उसने बड़े क़रीने से भोजन चुनना शुरू किया। तीन थालों में भोजन चुना गया। जिन चीज़ों को गरम रखने की ज़रूरत थी वे अभी तक गरम पानी में रक्खी हुई थीं, भोजन के साथ नहीं परोसी गई थीं। थोड़ी देर में डाक्टर साहब—सर्वेश और रामसुन्दर के साथ—आ पहुँचे। भोजन शुरू हुआ। सरला ने बड़ी होशियारी से परोसना आरम्भ किया। भोजन करते समय इधर-उधर की बातें होने लगीं।

सर्वेश—"मामाजी, स्टेशनों पर बहुत बुरा भोजन मिलता है। भाई रामसुन्दर, बलिया के स्टेशन की पूड़ियाँ याद हैं ?"

रामसुन्दर—"और लखनऊ के स्टेशन के 'निराले
दूध' को तो कभी न भूलिएगा।"

सतीश—"पर, तरकारी तो किसी भी स्टेशन की भू
की नहीं।"

डाक्टर साहब—"ऐसे मौकों पर तो फल खाने चाहिएँ।

सतीश—"मामाजी, बड़े स्टेशनों को छोड़कर और
स्टेशनों पर फल नहीं मिलते।"

बातें भी जारी थीं, खाना भी जारी था, सरला का परो-
सना भी जारी था। रामसुन्दर यद्यपि बातों में योग दे
था, पर उसका ध्यान सरला ही की ओर था। वह बार-ब
उसी को देखता था। उसकी इस हरकत से सतीश को थो
सी भीतरी जलन पैदा हुई। मानिनी सरला ने भी मन
कुछ बुरा माना। भोजन साङ्ग हुआ। रामसुन्दर और
सतीश ने एक कण्ठ से कहा:—

"तीन महीने में आज ही तृप्त होकर भोजन किया है

चलते समय रामसुन्दर ने मुड़कर एक बार फिर स
को देखा। अब की बार तो सतीश जल ही गया। दो
मित्र बाहर आये। सतीश को गुस्सा आ ही रहा
क रामसुन्दर की इस बेहूदा हरकत पर उसको लानत
लामत दे कि इतने ही में उसने पूछा—

"भाई, यह लड़की कौन है? जब मैं पहले तुम्हारे
ाँ आया था, तब तो यह यहाँ न थी ..."

मानो सतोश की प्रदीप्त क्रोधाग्नि पर मिट्टी का तेल पड़ा। उसने घृणा के साथ कहा—

"रामसुन्दर, तुम बड़े नीच हो जब तक खाते रहे, उसकी ओर घूरते रहे। जब खाकर बाहर आये, तब फिर-फिरकर उसकी ओर देखा किये। अब तुम्हारी नीचता इतनी बढ़ गई कि मुझसे भी उसी प्रकार के प्रश्न करने लगे। मुझे तुम्हारी नैतिक अवस्था पर बड़ा दुःख है"

सतीश की यह बकवाद सुनकर रामसुन्दर को ज़रा भी क्रोध न आया। उसने बड़े विनीत भाव से कहा—

"भाई साहब, आप क्या कर रहे हैं? जो कुछ आपने मेरे आचरण के विषय में कहा, ठीक है। पर यह आचरण किस दृष्टि से देखना चाहिए, इस पर आपने विचार नहीं किया। मैं समझता हूँ कि हमारा सैकड़ों मील इधर-उधर घूमना बेकार हुआ। जिसकी हमको तलाश थी, वह हमारे ही घर में मैाजूद है। मैं सच कहता हूँ कि कई बार मेरे जी में आया कि अपनी नन्हीं को हृदय से लगा लूँ। आप मामाजी से इसके विषय में पूछिए तो। मेरा हृदय कूद रहा है। कार्य्य सिद्ध हो गया।"

बड़े ही विस्मय और सलज्जता के साथ सताश ने पूछा—

"रामसुन्दर, क्या सच कहते हो; यही तुम्हारी बहिन—नन्हीं है?"

"मेरी अवस्था आठ वर्ष की थी, जब प्यारी नन्हीं हमसे जुदा हुई थी। मुझे अब तक उसका चेहरा खूब याद है।

वह हँसता हुआ स्वर्गीय कान्ति-पूर्ण चेहरा आज भी मेरी आँखों के सामने फिर रहा है। सरला से उसका चेहरा बहुत मिलता है मुझे खूब याद है, उसके गाल पर दो छोटे-छोटे स्याह तिल थे। सरला के चेहरे पर भी वैसे ही हैं। चलि मामाजी से इसके विषय में पूछ-ताछ करें।"

दोनों मित्र तत्काल डाक्टर साहब के कमरे में आये डाक्टर साहब आराम-कुर्सी पर लेटे कोई व्यवसाय-सम्बन्ध पुस्तक पढ़ना ही चाहते थे कि ये दोनों वहाँ पहुँच गये उन्होंने कहा—

"सतीश, अब आराम करो। बहुत थके हो।"

सतीश ने धीरे से कहा—

"मामाजी, रामसुन्दर सरला के विषय में आपसे कुछ पूछना चाहते हैं।"

डाक्टर साहब ने भाव-पूर्ण दृष्टि से रामसुन्दर को देखा, जिसका चेहरा हर्ष और विस्मय के मिले हुए भाव से एक विशेष प्रकार का आकार धारण कर रहा था।

डाक्टर साहब ने कहा—

"सरला के विषय में आप क्या और क्यों पूछ चाहते हैं?"

रामसुन्दर बड़े विनीत भाव से बोला—

"मामाजी! आज मैं अपने घर का एक रहस्य सुनाता हूँ। उसी के विषय में मैं और भाई सतीश, इधर-उधर सैकड़ों मील

घूमा किये। मगर सफलता तो क्या, उसके चिह्न तक भी नहीं मिले। अब मैं उस रहस्य को सुनाता हूँ। मेरे पिता दो भाई थे—रामप्रसाद और शिवप्रसाद। रामप्रसादजी मेरे पिता थे। शिवप्रसादजी के एक कन्या थी, जिसको घर के लोग स्नेह-वश नन्हीं कहा करते थे। वह मुझसे छः वर्ष छोटी थी। मेरे चाचा—नन्हीं के पिता—का देहान्त मेरे पिता के सामने ही हो गया था। मेरी चाचीजी का स्वभाव बड़ा उग्र था। वे अपनी आन की बड़ी पक्की थीं। एक दिन मेरे पिता ने किसी घरेलू बात पर गुस्सा होकर उनसे घर से निकल जाने की बहुत ही बुरी बात कह दी। उसके लिए उनको सदा पश्चात्ताप रहा और इस बड़े भारी कलङ्क को साथ लिये ही उन्होंने इहलोक-परित्याग किया। मेरी चाची ने उसी रात को घर छोड़ दिया। नन्हीं को भी वे साथ ले गईं। मेरे पिता ने बहुत तलाश की, पर पता न लगा। मरते समय उन्होंने मुझसे, अन्तिम वसीअत के तौर पर, यही कहा कि 'जिस तरह हो, अपनी चाची और बहन का पता लगाना। यदि पता लग जाय, तो उनकी सम्पत्ति—मय उस दिन तक के सूद के—उनको दे देना। इस तरह मेरी आत्मा के कलङ्क को धोने की चेष्टा करना। मेरा गया-श्राद्ध इसे ही समझना। यदि पता न लगे, तो तू भी विवाह मत करना। अपने शरीर के साथ ही वंश की समाप्ति कर देना; क्योंकि इस कलङ्क के साथ वंश-वृद्धि करना मानों कलङ्क को

ज़िन्दा रखना है। बेटा, वंश-नाश ही इस पाप का छोटा सा, पर भयानक प्रायश्चित्त है। आशा है, तुम इ प्रायश्चित्त द्वारा, मेरे कारण अपने वंश पर लगे इस कलङ्क से उसको मुक्त करने का—ज़रूरत हुई तो—सुप्रयत्न करोगे।' यह कहते-कहते मेरे पिता के प्राण-पखेरू उड़ गये। उनकी मृत्यु के बाद से ही मैं व्यग्र था कि इस विषय में क्या करूँ। भाई सतीशचन्द्र से मैंने अपना रहस्य खोलकर कह दिया था और इन्होंने सदा की तरह मेरे इस दुःख में भी भाग लेना स्वीकार कर लिया था। अब जैसा कि आपको मालूम है, हम लोग सैकड़ों मील का चक्कर और न मालूम किन-किन मुसीबतों को झेलकर वापिस आ गये और कार्य्य-सिद्धि न हुई। पर, यहाँ आकर,—यहाँ सरला को देखकर—मेरी अन्तरात्मा बार-बार यह कह रही है कि यही बहन नन है। अब आप कृपा करके यह बताइए कि सरला के विषय में मेरी जो यह धारणा है, उसको आप निर्मूल तो नहीं समझते?"

डाक्टर साहब ने बड़ी शान्ति से उत्तर दिया—

"रामसुन्दर, मैं इसके उत्तर में स्वयं कुछ न कहकर तुमको वे पत्र दिये देता हूँ, जो सरला की माता ने मरते समय सरला के साथ ही मुझे सिपुर्द किये थे। मुझे प्रतीत होता है तुम अपनी चेष्टाओं में सफल हुआ चाहते हो।"

डाक्टर साहब ने बक्स खोलकर वे दोनों लिफ़ाफ़े राम सुन्दर के हाथ में दे दिये, जो सरला की माता ने उनको दि

। रामसुन्दर ने दोनों लिफ़ाफ़ों को खोलकर पढ़ा। उनको
ढ़ते ही उसको निश्चय हो गया कि उसकी चाची का ही यह
र है और उसके पिता का ही वह इक़रारनामा है। सरला भी
ारी नन्हीं के सिवा और कोई नहीं। रामसुन्दर डाक्टर-बाबू
चरणों पर गिर पड़ा और सतीश, जो इस अभिनय को
ाकर आश्चर्य में डूब रहा था, उठकर बाहर चला गया।
ाक्टर-बाबू ने सरला को बुलाया। वह तुरन्त आकर उप-
ित हो गई। रामसुन्दर भावावेश को न रोक सका और
ला को हृदय से लगाकर अश्रु-वर्षण करने लगा। यदि
ाक्टर-बाबू सरला से यह न कहते, तो वह अपने को बड़ी
ात्ति में समझती—

"बेटी, ये तुम्हारे भाई रामसुन्दर हैं। तुम्हारी तलाश
बहुत दूर तक घूम आये हैं। तुम उस दिन कहती थीं कि
ुम्हारी माता तुमसे कभी-कभी ज़िक्र किया करती थीं कि सरला,
ुम्हारे एक भाई है। वह अवश्य एक दिन तुमको मिलेगा।
ा तुम्हारी स्वर्गीया माता की भविष्यद्वाणी पूरी हुई।"

(७)

चार मास के बाद डाक्टर राजनाथ ने नीचे लिखा हुआ
ान्त्रण-पत्र अपने मित्रों के नाम भेजा—

"प्रिय महोदय,

मेरे भानजे श्री सतीशचन्द्र विद्यानिधि, एम० ए० का
ह जौनपुर के सुप्रसिद्ध रईस स्वर्गीय पण्डित शिवप्रसादजी

की कन्या के साथ होना निश्चित हुआ है। आपसे प्रार्थना है कि वसन्तपञ्चमी के दिन शाम को मेरे निवास-स्थान पर पधारकर, भोज में सम्मिलित होकर, मेरी मान-वृद्धि कीजिए।

निवेदक—
राजनाथ।"

कहने की ज़रूरत नहीं कि सरला का विवाह सतीश के साथ बड़ी धूम-धाम से हो गया। रामसुन्दर ने उसकी कुल सम्पत्ति दहेज में सरला के अर्पण कर दी। आज तक राम-सुन्दर और सतीश मित्रता के ही ज़बरदस्त पाश में बद्ध थे। अब वे मित्रता और आत्मीयता के डबल पाश में बेतरह जकड़ गये।

—ज्वालादत्त शर्म्मा

(४) बात

यदि हम वैद्य होते तो कफ और पित्त के सहवर्ती वात की व्याख्या करते तथा भूगोलवेत्ता होते तो किसी देश के जल-वात का वर्णन करते किन्तु इन दोनों विषयों में हमें एक बात कहने का भी प्रयोजन नहीं है। हम तो केवल उसी बात के ऊपर दो चार बातें लिखते हैं जो हमारे तुम्हारे सम्भाषण के समय मुख से निकल-निकल के पर-पर-हृदयस्थ भाव को प्रकाशित करती रहती है। सच पूछिए तो इस बात की भी क्या बात है जिसके प्रभाव से मानव-जाति समस्त जीवधारियों की शिरोमणि—अशरफुलमखलूकात—कहलाती है। शुकसारिकादि पक्षी केवल थोड़ी सी समझने योग्य बातें उच्चारित कर सकते हैं। इसी से अन्य नभचारियों की अपेक्षा आदृत समझे जाते हैं। फिर कौन न मान लेगा कि बात की बड़ी बात है। हाँ बात की बात इतनी बड़ी है कि परमात्मा को लोग निराकार कहते हैं तो भी इसका सम्बन्ध उसके साथ लगाये रहते हैं। वेद ईश्वर का वचन है, कुरानशरीफ़ कलामुल्लाह है, होली बाइबिल वर्ड आफ़ गॉड है; यह वचन, कलाम और वर्ड बात ही के पर्याय हैं जो प्रत्यक्ष में मुख के बिना स्थित नहीं कर सकती पर बात की महिमा के अनुरोध से सभी धर्मावलम्बियों ने "बिन बानी वक्ता बड़ योगी" वाली बात मान रक्खी है। यदि कोई न माने तो लाखों बातें

वना के मानने पर कटिबद्ध रहते हैं। यहाँ तक कि प्रेम सिद्धान्ती लोग निरवयव नाम से मुँह बिचकावेंगे, "अपाणिपादो जवनो गृहीता" पर दृढ़ करनेवाले को यह कहकर बातों में उड़ावेंगे कि "हम लँगड़े लूले हमारा प्यारा तो कोटि काम सुन्दर श्याम वर्ण विशिष्ट है"। निराकार शब्द का अर्थ श्री शालिग्राम शिला है जो उसकी श्यामता का द्योतन करती है अथवा योगाभ्यास का आरम्भ करनेवाले को आँखें मूँदने पर जो कुछ पहले दिखाई देता है वह निराकार अर्थात् बिल्कुल काला रङ्ग है। सिद्धान्त यह कि रङ्ग रूप रहित रङ्ग को सब रङ्ग रङ्गित एवं अनेक रूप सहित ठहरावेंगे किन्तु कानों अथवा प्रानों वा दोनों को प्रेम-रस से सिञ्चित करनेवाली उसकी मधुर मनोहर बातों के मज़े से अपने को वञ्चित न करने देंगे। जब परमेश्वर तक बात का प्रभाव पहुँचा हुआ है तो हमारी कौन बात रही? हम लोगों को तो 'गात माँहि बात करामात है'; नाना शास्त्र पुराण इतिहास काव्य कोश इत्यादि सब बात ही के फैलाव हैं। जिनके मध्य एक-एक बात ऐसी पाई जाती है जो मन बुद्धि चित्त को अपूर्व दशा में ले जानेवाली अथच लोक-परलोक में सब बात बनानेवाली है। यद्यपि बात का कोई रूप नहीं बतला सकता कि कैसा है, पर बुद्धि दौड़ाइए तो ईश्वर की भाँति इसके भी अगणित ही रूप पाइएगा। बड़ी बात, छोटी बात, सीधी बात, टेढ़ी बात, खरी बात, खोटी बात, मीठी बात, कड़वी बात, भली बात, बुरी बात, सुहानी बात, लगती बात

त्यादि सब बात ही तो है ! बात के काम भी इसी भाँति
नेक देखने में आते हैं। प्रीति, वैर, सुख, दुःख, श्रद्धा, घृणा,
त्साह, अनुत्साहादि जितनी उत्तमता और सहजतया बात के
ारा विदित हो सकते हैं दूसरी रीति से वैसी सुविधा ही नहीं।
हीं घर बैठे लाखों कोस का समाचार मुख और लेखनी से
र्गत बात ही बतला सकती है। डाकखाने अथवा तारघर के
हारे से बात की बात में, चाहे जहाँ की जो बात हो, जान
कते हैं। इसके अतिरिक्त बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात
ा पड़ती है, बात जाती रहती है, बात खुलती है, बात छिपती
, बात चलती है, बात अड़ती है, बात जमती है, बात उख-
ती है, हमारे-तुम्हारे भी सभी काम बात ही पर निर्भर हैं।
बातहि हाथी पाइए बातहि हाथी पाँव"—बात ही से पराये
पने और अपने पराये हो जाते हैं। मक्खीचूस उदार तथा उदार
ल्पव्ययी, कापुरुष युद्धोत्साही एवं युद्धप्रिय, शान्ति शोक,
मार्गी सुपथगामी, अथच सुपंथी कुराही इत्यादि बन जाते हैं।
त का तत्त्व समझना हर एक का काम नहीं है और दूसरों
े समझ पर आधिपत्य जमाने योग्य बात गढ़ सकना ऐसों-
सों का साध्य नहीं है। बड़े-बड़े विज्ञवरों तथा महा-महा कवी-
रों के जीवन बात ही के समझने और समझाने में व्यतीत
ा जाते हैं। सहृदयगण की बात के आनन्द के आगे सारा संसार
च्छ जँचता है। बालकों की तोतली बातें, सुन्दरियों की मीठी-
ठी प्यारी-प्यारी बातें, सत्कवियों की रसीली बातें, सुवक्ताओं

की प्रभावशालिनी बातें, जिनके जी को और का और न कर दें उसे पशु नहीं पाषाण-खण्ड कहना चाहिए; क्योंकि कुत्ते-बिल्ली आदि को विशेष समझ नहीं होती तो भी पुचकार के तू-तू, पूसी-पूसी इत्यादि बातें कह दो तो भावार्थ समझ के यथासामर्थ्य स्नेह-प्रदर्शन करने लगते हैं। फिर वह मनुष्य कैसा जिसके चित्त पर दूसरे हृदयवान् की बात का असर न हो। बात वह आदरणीय बात है कि भलेमानस बात और बाप को एक समझते हैं। हाथी के दाँत की भाँति उनके मुख से एक बार कोई बात निकल आने पर फिर कदापि नहीं पलट सकती। हमारे परम पूजनीय आर्यगण अपनी बात का इतना पक्ष करते हैं कि 'तन तिय तनय धाम धन धरनी; सत्यसन्ध कहँ तृन सम बरनी' अथच 'प्रानन ते सुत अधिक है सुत ते अधिक परान, ते दूनों दशरथ तजे बचन न दीन्हों जान' इत्यादि उनकी अक्षर-संबद्धा कीर्ति सदा संसार-पट्टिका पर सोने के अक्षरों से लिखी रहेगी; पर आजकल के बहुतेरे भारत-कुपुत्रों ने यह ढङ्ग पकड़ रक्खा है 'मर्द की ज़बान और गाड़ी का पहिया चलता ही फिरता रहता है'। आज और बातें हैं, कल ही स्वार्थान्धता के वश हुज़ूरों की मरज़ी के मुवाफ़िक़ दूसरी बातें हो जाने में तनिक भी विलम्ब की सम्भावना नहीं है। यद्यपि कभी-कभी अवसर पड़ने पर बात के कुछ अंश का रङ्ग-ढङ्ग परिवर्तित कर लेना नीति-विरुद्ध नहीं है, पर कब? जात्योपकार (?) देशोद्धार आर्यकुलरत्नों के अनुगमन की

ामर्थ्य नहीं है किन्तु हिन्दुस्तानियों के नाम पर कलङ्क लगाने
ो भी सहमार्गी बनने में घिन लगती है। इससे यह रीति
ङ्गीकार कर रक्खी है कि चाहे कोई बड़ा बतकहा अर्थात्
ातूनी कहे, चाहे यह समझे कि बात करने का भी शऊर नहीं
किन्तु अपनी मति के अनुसार ऐसी बातें बनाते रहना चाहिए
जनमें कोई न कोई किसी न किसी के वास्तविक हित की बात
नकलती रहे पर खेद है कि हमारी बातें सुननेवाले उँगलियों
ो पर गिनने भर को हैं। इससे बात बात में बात निकालने
ा उत्साह नहीं होता। अपने जी को क्या बने बात जहाँ बात
नाये न बने इत्यादि विदग्धालापों की लेखनी से निकली हुई
ातें सुना के कुछ फुसला लेते हैं और बिन बात की बात को
ात का बतबढ़ समझके बहुत बात बढ़ाने से हाथ समेट लेना
ी समझते हैं कि अच्छी बात है।

—प्रतापनारायण मिश्र

---

(५) भगवान् श्रीकृष्ण

पाँच हज़ार वर्ष बीते भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द इस धराधाम पर अवतीर्ण हुए थे। जन्माष्टमी का शुभ पर्व प्रतिवर्ष हमें इस चिरस्मरणीय घटना की याद दिलाता है। आर्य-जाति बड़ी श्रद्धा-भक्ति से इस परमपावन पर्व को मनाती है। विश्व की उस अलौकिक विभूति के गुण-कीर्तन से करोड़ों आर्य जन अपने हृदयों को पवित्र बनाते हैं। अपनी वर्तमान अधोगति में, निराशा के इस भयानक अन्धकार में, उस दिव्य ज्योति को ध्यान की दृष्टि से देखकर सन्तोष लाभ करते हैं। आज दुःख-दावानल से दग्ध भारतभूमि घनश्याम की अमृत-वर्षा की बाट जोहती है। दुःशासन-निपीड़ित प्रजा-द्रौपदी रक्षा के लिए कातर स्वर में पुकारती है। धर्म अपनी दुर्गति पर सिर धुनता हुआ 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति' की याद दिलाकर प्रतिज्ञा-भङ्ग की नालिश कर रहा है। जाति-जननी अत्याचार-कंस के कष्ट-कारागार में पड़ी दिन काट रही है, गौएँ अपने गोपाल की याद में प्राण दे रही हैं—जान गँवा रही हैं। इस प्रकार भगवान् के जन्मदिन का शुभ अवसर भी हमें अपनी मौत का मर्सिया ही सुनाने को मजबूर कर रहा है, आनन्द-बधाई के दिन भी हम अपना ही दुखड़ा रो रहे हैं, विधि की विडम्बना से 'प्रभाती' के समय 'विहाग'

पलापना पड़ रहा है। संसार की अनेक जातियाँ क्षुद्र और बहुधा कल्पित आदर्शों के सहारे उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो गई हैं और हो रही हैं। उत्तम आदर्श उन्नति का प्रधान अवलम्ब है। अवनति के गर्त में पतित जाति के लिए आदर्श ही उद्धार-रज्जु है। आर्यजाति के लिए आदर्शों का अभाव नहीं है। सब प्रकार के एक से एक बढ़कर आदर्श सामने हैं। संसार की अन्य किसी जाति ने इतने आदर्श नहीं पाये, फिर भी इतने महत्त्वशाली आदर्श पाकर भी आर्य-जाति क्यों नहीं उठती? यही नहीं, कभी-कभी तो आदर्श-वाद ही दुर्दशा का कारण बन जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण संसार भर के आदर्शों में सर्वाङ्गसम्पूर्ण आदर्श हैं। इसी कारण हिन्दू उन्हें सोलह कला-सम्पूर्ण अवतार—"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"—मानते हैं। अवतार न माननेवाले भी उन्हें आदर्श योगिराज, कर्मयोगी, सर्वश्रेष्ठ महा-पुरुष कहते हैं। मनुष्य-जीवन को सार्थक बनाने के लिए जो आदर्श अपेक्षित है वह सब स्पष्ट रूप में प्रचुर परिमाण में श्रीकृष्ण-चरित में विद्यमान है। ध्यानी, ज्ञानी, योगी कर्मयोगी, नीति-धुरन्धर नेता और महारथी योद्धा, जिस दृष्टि से देखिए, जिस कसौटी पर कसिए, श्रीकृष्ण अद्वितीय ही प्रतीत होंगे। संस्कृत-भाषा का साहित्य कृष्णचरित की महिमा से भरा पड़ा है। पर दुर्भाग्य से हम उसके तत्त्व को हृदयङ्गम नहीं करते। उस आदर्श का अनुकरण करना नहीं चाहते, उलटा उसे अपने

पाप दूर होवे हैं, उसका मनुष्य देह धारण कर समस्त पापाचरण करना क्या भगवच्चरित्र है ?

"सनातन-धर्मद्वेषी कहा करते हैं कि भगवच्चरित्र की ऐसी कल्पना करने के कारण ही भारतवर्ष में पाप का स्रोत बढ़ गया है। इसका प्रतिवाद कर किसी को कभी जय प्राप्त करते नहीं देखा है। मैं श्रीकृष्ण को स्वयं भगवान् मानता हूँ और उन पर विश्वास करता हूँ। अँगरेज़ी शिक्षा से मेरा यह विश्वास और दृढ़ हो गया है। पुराणों और इतिहास में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के चरित्र का वास्तव में कैसा वर्णन है यह जानने के लिए मैंने जहाँ तक बना इतिहास और पुराणों का मन्थन किया। इसका फल यह हुआ कि श्रीकृष्णचन्द्र के विषय में जो पाप-कथाएँ प्रचलित हैं वह अमूलक जान पड़ीं। उपन्यासकारों ने श्रीकृष्ण के विषय में जो मनगढ़न्त बातें लिखी हैं उन्हें निकाल देने पर जो कुछ बचता है वह अति विशुद्ध, परम पवित्र, अतिशय महान् मालूम हुआ है। मुझे यह भी मालूम हो गया है कि ऐसा सर्वगुणान्वित और सर्वपापरहित आदर्श चरित और कहीं नहीं है। न किसी देश के इतिहास में और न किसी काव्य में।"

श्रीकृष्ण-चरित का मनन करनेवालों को श्रीबङ्किमचन्द्र की उक्त सम्मतियों पर गम्भीरता से विचार करना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र के रहस्य को अच्छी तरह समझकर उसके आधार पर यदि हम अपने जाति-जीवन का निर्माण

सहसा कोई सहमत न हुआ। दुर्योधन की कुटिलता और क्रूरता के विचार से श्रीकृष्ण का वहाँ जाना किसी ने उचित न समझा, इस पर खूब वाद-विवाद हुआ। उद्योग-पर्व का वह प्रकरण, 'भगवद्यान-पर्व', बड़ा अद्भुत और हृदयहारी है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण के सन्धि-प्रस्ताव को लेकर जाने का वर्णन है। श्रीकृष्ण जानते थे कि सन्धि के प्रस्ताव में सफलता न होगी, दुर्योधन किसी की माननेवाला जीव नहीं है। यात्रा आपज्जनक है, प्राण-संकट की सम्भावना है; पर कर्तव्यानुरोध से जान पर खेलकर भी उन्होंने वहाँ जाना ही उचित समझा।

दुर्योधन को जब मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण आ रहे हैं तब उसने श्रीकृष्ण को साम, दान, दण्ड, भेद द्वारा जाल में फँसाने का कोई उपाय उठा न रक्खा। मार्ग में जगह-जगह उनके स्वागत का धूमधाम से प्रबन्ध किया गया। रास्ते की सड़कें खूब सजाई गईं। दुर्योधन जानता था कि सब कुछ श्रीकृष्ण के हाथ में है, जो वे चाहेंगे वही होगा, उनकी आज्ञा से पाण्डव अपना सर्वस्व त्याग कर सकते हैं, श्रीकृष्ण को क़ाबू में कर लिया जाय तो बिना युद्ध के ही विजय हो सकती है, श्रीकृष्ण के बल-बूते पर ही पाण्डव युद्ध के लिए सन्नद्ध हो रहे हैं। निदान दुर्योधन ने श्रीकृष्ण को फँसाने की प्राणपण से चेष्टा की। पर अच्युत श्रीकृष्ण अपने लक्ष्य से कब चूकने-वाले थे। सन्धि का प्रस्ताव स्वीकृत न हुआ। दुर्योधन—कर्ण [illegible] अपने साथियों के साथ—सभा से उठकर

चला गया। जब उसने साम, दान से काम बनते न देखा तब आवश्यक दण्ड देने—कैद कर लेने—का षड्यन्त्र रचा; उन्हें अपने घर पर निमन्त्रित किया। दुर्योधन की इस दुरभिसन्धि को विदुर आदि दूरदर्शी ताड़ गये, उन्होंने श्रीकृष्ण को वहाँ जाने से रोका। श्रीकृष्ण स्वयं भी सब कुछ समझते थे, पर वह जिस काम से आये थे उसके लिए एक बार फिर प्राणपण से प्रयत्न करना ही उन्होंने उचित समझा। वे दुर्योधन के घर पहुँचे और उसे निर्भयतापूर्वक सन्धि का औचित्य समझाया। पाण्डवों की निर्दोषता और दुर्योधन का अन्याय प्रमाणित किया, पर दुर्योधन किसी तरह न माना। श्रीकृष्ण उसे फटकारकर चलने लगे। दुर्योधन ने भोजन के लिए आग्रह किया, इस पर जो उचित उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण ने दिया वह उन्हीं के योग्य था। कहा कि—

सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः।
न च संप्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥

अर्थात् या तो प्रीति के कारण किसी के यहाँ भोजन किया जाता है, या फिर विपत्ति में—दुर्भिक्ष आदि संकट में। तुम हमसे प्रेम नहीं करते और हम पर कोई ऐसी आपत्ति नहीं आई है, ऐसी दशा में तुम्हारा भोजन कैसे स्वीकार करें?

इस प्रत्याख्यान से क्रुद्ध होकर दुर्योधन ने उन्हें घेरकर पकड़ना चाहा, पर भगवान् श्रीकृष्ण के अलौकिक तेज और दिव्य पराक्रम ने उसे परास्त कर दिया, वह अपनी धृष्टता पर लज्जित होकर रह गया।

हमारे लीडर लोग भगवान् के इस आचरण से शिक्षा ग्रहण करें तो उनका और लोक का कल्याण हो।

पाण्डव और कौरव दोनों ही श्रीकृष्ण के सम्बन्धी थे, दोनों ही उन्हें अपने पक्ष में लाने के लिए समान रूप से प्रयत्न-शील थे। 'लोक-संग्रह' के तत्त्व से भी भगवान् अनभिज्ञ न थे, पर उन्होंने आजकल के ज़मानासाज़ लीडरों की तरह सर्वप्रियता या हर-दिलअज़ीज़ी में फँसकर अपने करारेपन को दाग़ नहीं लगाया। मेल-मिलाप की मोह-माया में भूलकर न्याय को अन्याय और धर्म को अधर्म नहीं बताया। निरपराध को अपराधी बताकर अपनी समदर्शिता या उदारता का परिचय नहीं दिया। श्रीकृष्ण अपने प्राणों का मोह छोड़कर दुर्योधन को समझाने गये और भयानक संकट के भय से भी कर्तव्य-पराङ्मुख न हुए।

हमारे इस युग के लीडरों में तिलक महाराज ने श्रीकृष्ण-चरित के तत्त्व को सबसे अधिक समझा था और उनकी दृढ़ता और तेजस्विता का कारण भी यही था। महाभारत का भगव-च्चरित्र उनके मन की सबसे प्रिय वस्तु थी। मालवीयजी महाराज और श्रीलालाजी भी श्रीकृष्ण के अनुयायी भक्तों की श्रेणी में हैं।

आर्य जाति के लीडर शिक्षित युवक श्रीकृष्ण-चरित को अपना आदर्श मानकर यदि अपने चरित्र का निर्माण करें तो देश और जाति का उद्धार करने में समर्थ हो सकेंगे। परमात्मा ऐसा ही करे।

—पद्मसिंह शर्मा

---

(६) कवि और चितेरे की डाँड़ामेड़ी

इन दोनों की डाँड़ामेड़ी हम इसलिए कहते हैं कि मनुष्य तथा प्रकृति के भावों को ये दोनों ही प्रकट किया चाहते हैं—कवि लेखनी और शब्दों द्वारा, चितेरा अपनी "तूलिका" (रङ्ग भरने की कूर्चा) और भाँति-भाँति के चित्र-विचित्र रङ्गों से। काम दोनों का बहुत बारीक और अति कठिन है। केवल इतना ही नहीं, किन्तु एक प्रकार की लोकोत्तर प्रतिभा दोनों के लिए आवश्यक है। किसी कवि का यह श्लोक हमारे इस आशय को भरपूर पुष्ट करता है—

नाम-रूपात्मकं विश्वं यदिदं दृश्यते द्विधा।
तत्राद्यस्य कविर्वेधा द्वितीयस्य चतुर्मुखः॥

अर्थात्—नाम और रूपात्मक जो दो प्रकार का यह संसार देख पड़ता है, उसमें से आदि अर्थात् नामात्मक जगत् का निर्माण-कर्ता कवि है, और दूसरे का ब्रह्मा।

जानीते यन्न चन्द्रार्कौ जानन्ते यन्न योगिनः।
जानीते यन्न भर्गोऽपि तज्जानाति कविः स्वयम्॥

अर्थात्—इस दृश्य जगत् के साक्षी-रूप सूर्य और चन्द्रमा जिस बात को नहीं जानते, परोक्ष-ज्ञानवान् योगी जन जिसे

नहीं जानते, उसे कवि अपनी लोकोत्तर प्रतिभा के बल से जान लेता है। कवि की प्रतिभा जिस भाव के वर्णन से लोकोत्तर चातुरी प्रकट कर दिखाती है, अच्छा निपुण चितेरा उसी को अपनी प्रतिभा से चित्र के द्वारा दिखला देता है। अच्छा चितेरा कवि के एक-एक श्लोक या दोहे के नीचे उसी भाव की ठीक तस्वीर खींच सकता है और तब इन दोनों में कहाँ तक तुलना है, इसका ठीक परिज्ञान हो सकता है; किन्तु इन दोनों की कारीगरी के परीक्षक भी बड़े निपुण होने चाहिएँ। दोनों के काम की बारीकी और सूक्ष्म सौन्दर्य को पेखने को पैनी दृष्टि चाहिए। इस तरह के परीक्षक कोई विरले नागरिक जन होते हैं। उत्तम काव्य तथा चित्र के समझने को एक ही तरह की सूक्ष्म और तीखी समझ चाहिए। कवि और चित्रकार की कल्पना-शक्ति भी बिलकुल एक सी है।

अब रहा "उपादान-कारण" या सामान, अर्थात् कवि के लिए वाग्-विभव और चितेरे के लिए रङ्ग का चटकीलापन इत्यादि, सो जिसके पास जैसा होगा, वैसा ही वह काव्य तथा चित्र बना सकेगा; क्योंकि कवि तथा चितेरे के लिए बाह्य वस्तु—जैसे वन, नदी, पर्वत आदि—के वर्णन की अपेक्षा मानसिक भावों का प्रकाश कविता तथा चित्र के द्वारा अधिक कठिन है। जिसे चित्रकार रङ्ग की ज़रा सी झाँई में प्रकट कर दिखाता है, उसी का प्रकट करना कवि के लिए इतना दुरूह है कि बेहद दिमाग़पच्ची करने पर दो-चार सतक-

यों ही के काव्य में यह ख़ूबी पाई जाती है। फिर भी
ाव्य में उतनी सफ़ाई न आवेगी। चित्र में अन्तर्लीन मनो-
त भाव सहज में दरसाया जा सकता है। मनोगत भावों
ा प्रकाश कालिदास और शेक्सपियर इन्हीं दो के काव्यों में
शेष पाया जाता है। मनोगत भाव—जैसे हर्ष, शोक, भय,
णा, प्रीति इत्यादि—के उदाहरण साहित्य-दर्पण के तीसरे
रिच्छेद में अच्छी तरह संगृहीत कर दिये गये हैं। यह बात
वि और चितेरे में बताने और सिखाने से नहीं आती, जितनी
ाभाविक बोध से होती है, किन्तु फिर भी फ़र्क़ इतना ही
ागा कि कवि जिस आशय या भाव को बहुत-से शब्दों में
वेगा, उसे चित्रकार तूलिका के एक हलके से झोंक में
ट कर देगा और कवि के वर्णित आशय का स्वरूप
मने खड़ा कर देगा।

चित्रकारी से कविता में इतनी विशेष बात है कि चित्र
ना चिरस्थायी न रहेगा, जितनी कविता रह सकती है।
ौर तथा काव्य से मनुष्य की प्रकृति का पूरा परिचय मिल
ता है। हमारे यहाँ के अमीरों के ड्राइङ्ग-रूम में नङ्गी तस्वीरों
रहना फ़ैशन में दाख़िल हो गया है। लखनऊ के नवाबों
ख़िलवतगाह में वेश्याओं और हसीनों की तस्वीर न हों, तो
को हुस्नपरस्ती में ख़ामी समझी जाय। उर्दू-फ़ारसी
काव्यों का प्रधान अङ्ग केवल शृङ्गार-रस है। उस भाषा
शायर इश्क़ को जैसे उम्दा तरह पर कह सकते हैं, वैसे

उम्दा और नव-रसों में से किसी दूसरे रस का वर्णन उनसे न बन पड़ेगा। हमारे देश के रामागतीवाले भद्दी पसन्द के महाजनों तथा मारवाड़ियों की दुकानों पर बनारस की बनी निहायत भद्दी देवताओं की भोंड़ी तस्वीर के सिवा और कुछ न पाइएगा, जिन तस्वीरों की भद्दी चित्रकारी के सामने मानों कलकत्ते का आर्ट-स्टूडियो और पूना की चित्रशाला झख मारती है। इनकी निराली पसन्द के ठीक उपयुक्त "दानलीला", "मान-लीला" इत्यादि के आगे इनके मन में हम लोगों के प्रौढ़ लेख की चातुरी कब स्थान पा सकती है। किसी ने कहा है—
"ये गाँहक करवीन के तुम लीनों कर बीन।"

इसी तरह प्रकृति के प्रेमियों को शान्ति-उत्पादक वन, पर्वत, आश्रम, नदी का पुलिन, ऋतु, हरियाली आदि के चित्र पसन्द आते हैं। उनके स्थान पर जाने से प्रायः ऐसे ही चित्र पाइएगा। किसी अँगरेज़ी के विद्वान् का कथन है—"कमरे में लटकी हुई तस्वीर लटकानेवाले के मन की तस्वीर है।" इसी तरह पर भक्तजनों के घर जाइए, तो सन्त, महन्त, महापुरुषों के चित्र पाइएगा, जिनके देखने-मात्र से एक अद्भुत शान्त-रस का उद्गार मन में आ जायगा। पॉलि-टिक्स की मदिरा के नशे में चूर प्रसिद्ध राजनीतिज्ञों के स्थान पर क्रामवेल, बिस्मार्क-सरीखे पटु बुद्धिवालों का चित्र देखिएगा। सर्वस्व नाश करनेवाली बाल-विवाह की कुरीति ने ... की सन्तानों की वृद्धि और उपचय को कहाँ तक

मत्यानाश में मिलाया, किस घृणित दशा में इनको पहुँचा दिया और इस कुरीति की विषमय वायु से बचकर मनुष्य बल, पुष्टता, तेज, कान्ति, सौन्दर्य का कहाँ तक सञ्चय कर सकता है, इस बात को प्रत्यक्ष करने के लिए हमें चाहिए कि मुग़ल तथा योरुप देश के कमनीय बालकों, युवतियों और दृढ़ाङ्ग पुरुषों की कुछ तस्वीरें अपनी चित्रसारी में टाँग रक्खें और सदैव उनको देखा करें।

कवि और चितेरे में कहाँ तक डाँड़ामेड़ी या परस्पर की स्पर्द्धा है इसे हम यहाँ तक दर्शा चुके हैं। इन दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि सभ्यता का सूर्य ज्यों-ज्यों उठता हुआ मध्याह्न को पहुँचता जाता है, त्यों-त्यों चित्रकारी में नई-नई तराश-ख़राश की बारीकी चौगुनी होती जाती है; पर कवियों की वाग्देवी जिस सीमा को पहले ज़माने में पहुँच चुकी है, उससे बराबर अब तक घटती ही गई, यद्यपि हाल की सभ्यता के बुद्धि-वैभव, शाइस्तगी के मुक़ाबले वह ज़माना बहुत पीछे हटा हुआ था। लार्ड मेकाले ने अपने एक लेख में इस बात को बहुत अच्छी तरह पर सिद्ध कर दिखाया है। मेकाले कहते हैं कि "लोग इस सभ्यता के समय दर्शन, विज्ञान और दूसरी-दूसरी बुद्धि का विकास करनेवाली बातों में प्रवीणता प्राप्त कर पहले की अपेक्षा अधिक सोच सकते हैं। अनेक ग्रन्थों के सुलभ हो जाने से अधिक जान सकते हैं सही, किन्तु उसी अपनी सोची या जानी हुई बात को बुद्धि की अधिक पैनी

आँख से देखना उन पुराने कवियों ही को आता था।" इसमें सन्देह नहीं, इन दिनों के विशेषज्ञ विद्वान् तर्क बहुत अच्छा कर सकेंगे, जो बात उनके तर्क की भूमिका है उसका रूप खड़ा कर देंगे। अत्यन्त साधारण बात को अपने वाग्जाल से महाजगड्वाल कर डालेंगे, विज्ञान और शिल्प में नई-नई ईजाद कर खुदाई का भी दावा करने को सन्नद्ध हो जायँगे, पर उन कवियों की प्रतिभा-स्वरूप सूक्ष्म बुद्धि की छाया भी न पा सकेंगे। जिसे उन्होंने दो अक्षर के एक शब्द में सरस और गम्भीर भाव-पूर्ण प्रकट किया है, उसे ये आधे दर्जन शब्दों में भी न प्रकाशित कर सकेंगे। हमारे कवियों की पैनी बुद्धि का कारण यह भी है कि पूर्वकाल में जब हमारा समाज बालकदशा में था, उनके लिए "ज्ञातव्य विषय" बहुत थोड़े थे। जिधर उन्होंने नज़र दौड़ाई, उधर ही उन्हें नये-नये जानने के योग्य पदार्थ मिलते गये। बुद्धि उनकी विमल थी, चित्त में किसी तरह का कुटिल भाव नहीं आने पाया था; क्योंकि समाज अब के समान प्रौढ़ दशा को नहीं पहुँचा था; इसी लिए बहुत बातों में सभ्यता की बुरी हवा का झकोरा भी उन शिष्ट पुरुषों तक न पहुँच सका था। जब पात्र बड़ा होगा, और जो वस्तु उस पात्र में रक्खी जायगी वह कम होगी, तो वह वस्तु उसमें बहुत अच्छी तरह समा सकेगी। उनकी बुद्धि जैसी तीव्र और विमल थी, वैसा ही उनके मन में किसी तरह की कुटिलता और मैल न रहने से जिस बात के

वर्णन में उन्होंने अपने ख़याल को रुजू किया, वह साङ्गोपाङ्ग पूरा उतरा। तात्पर्य यह कि एक कविता के लिए यह नई सभ्यता विष हो गई, दूसरी अर्थात् चित्रकारी के लिए वह अमृत का काम दे रही है। इसी से काव्य दिन-दिन घटता गया और चित्रकारी रोज़-रोज़ बढ़ती गई।

—बालकृष्ण भट्ट

(७) पार्वती की तपस्या और फल-प्राप्ति

पेड़ों से पीले-पीले पत्ते पुराने होकर जो गिर पड़ते हैं उन्हीं को खाकर कोई-कोई तपस्वी अपनी जीवन-रक्षा करते हैं। वे सिर्फ़ वही पत्ते चाबकर रह जाते हैं, और कोई चीज़ नहीं खाते। इस तरह पत्ते चाबकर ही रह जाना तपस्या की चरम सीमा समझी जाती है। परन्तु पार्वती ने इस चरम सीमा को भी तोड़ दिया—उसने उसका भी उल्लङ्घन कर दिया। उसने इस तरह के पुराने पत्ते भी न खाये। चन्द्रमा की शीतल किरणों के स्पर्श और बिना माँगे ही प्राप्त हुए जल के पान से ही उसने किसी तरह अपने शरीर की रक्षा की। ऐसे जीर्ण पर्णों, अर्थात् पुराने पत्तों, का भी परित्याग करने ही के कारण मधुरभाषिणी पार्वती को पुराणों के ज्ञाता महात्मा अपर्णा कहते हैं। उसका अपर्णा नाम पड़ जाने का यही कारण है।

इस तरह दिन-रात अत्यन्त तीव्र व्रतों के साधन से कमलिनी की नाल के सदृश अपने अत्यन्त कोमल अङ्गों को वह और भी दुबला करती चली गई। तपस्वियों के शरीर कठोर होते हैं। अतएव वे स्त्रियों की अपेक्षा अधिक श्रम और क्लेश सह सकते हैं। परन्तु कठिन शरीरवाले तपस्वियों से

भी जो तपस्या नहीं हो सकती वह पार्वती ने कर दिखाई। उसकी तपस्या बड़े-बड़े तपस्वियों की तपस्या से भी बढ़ गई।

ऐसी उग्र तपस्या करते-करते बहुत समय बीत गया। एक दिन पार्वती के तपोवन में कहीं से अकस्मात् एक ब्रह्मचारी आया। उसके सिर पर बड़ी-बड़ी जटाएँ थीं, हाथ में पलाश का दण्ड था, बग़ल में काले मृग का चर्म—अर्थात् मृगछाला—था। ब्रह्म-तेज से वह जल सा रहा था। बोलने में वह प्रगल्भ—अर्थात् वाचाल—था। उसे देखकर यह मालूम होता था कि प्रत्यक्ष ब्रह्मचर्य-आश्रम ने उसके रूप में अवतार लिया है—वह मूर्तिमान् ब्रह्मचर्य-आश्रम ही मालूम होता था। उसे आता देख पार्वती अपने आसन से उठ बैठीं। अतिथियों का सम्मान करना वह ख़ूब जानती थीं। इस कारण अर्घ्य, पाद्य आदि की सामग्री लेकर वह कुछ दूर आगे चलकर उससे मिलीं और बड़े सम्मान से उसे अपने स्थान पर ले आईं। पार्वती भी तपस्विनी थीं और उसका अतिथि भी तपस्वी था। इस दृष्टि से दोनों समान ही थे, कोई किसी से कम न था। तथापि अपने स्थान पर आया जान पार्वती ने उसका आदर करना ही उचित समझा। बात यह है कि स्थिर-चित्त महात्मा विशेष-विशेष व्यक्तियों का गौरव करने में अपना ही गौरव समझते हैं। उनके ऐसे आचरण से स्वयमेव उन्हीं का गौरव बढ़ता है।

पार्वती के द्वारा विधि-पूर्वक की गई पूजा-अर्चा को उस ब्रह्मचारी ने बड़े प्रेम से ग्रहण किया। आसन पर कुछ देर

बैठने के बाद जब उसकी थकावट दूर हो गई तब उसने पार्वती से बात-चीत आरम्भ की। बात-चीत करने की जो परिपाटी सज्जनों की है उसी का उसने भी अनुसरण किया। वार्तालाप के समय न उसने कटाक्ष-पात किया और न अपनी भौंहें ही टेढ़ी कीं। बहुत ही सीधे-सादे ढँग से वह बोला—

"होम आदि यज्ञानुष्ठान के लिए समिधा और कुश तो यहाँ मिल जाते हैं न? स्नान, पूजन आदि के योग्य जल मिलने में तो कोई कठिनाई नहीं पड़ती? शक्ति के अनुसार ही तपस्या करती हैं न? शक्ति के बाहर कोई काम न करना चाहिए, क्योंकि धर्म का सबसे बड़ा साधन शरीर ही है। उसकी रक्षा करना पहला कर्तव्य है। शरीर नीरोग और सबल रहने ही से धर्मानुष्ठान हो सकता है।

"ये जो लताएँ तेरे समाधि-मण्डप पर छाई हुई हैं और जिन्हें तू अपने ही हाथ से सींचा करती है वे अच्छी तरह हैं न? उनके पल्लव असमय ही में तो नहीं गिर जाते? यद्यपि बहुत दिनों से तूने अपने अधरों पर लाक्षारस नहीं लगाया तथापि वे लाल ही दिखाई दे रहे हैं। उनकी यह लालिमा स्वाभाविक है। इन लताओं के लाल-लाल कोमल पल्लव तेरे अधरों की बराबरी सी कर रहे हैं। ये भी लाल और कोमल हैं और तेरे अधर भी लाल और कोमल हैं।

"तेरे आश्रम में हरिणों की बहुत अधिकता है। वे निडर होकर यहाँ घूमा करते हैं और अपने चञ्चल लोचन दिखा-दिखा-

कर मानों तुमसे यह कहा करते हैं कि देख, तेरी आँखें बड़ी-बड़ी नहीं हमारी भी तेरी ही जैसी हैं। ये हरिण तुमसे इतने हिल गये हैं कि पूजा के कुश भी तेरे हाथ में छीन-छीन कर खा जाते हैं। हे कमललोचनी! उनके इस अपराध के कारण उन पर तू कभी अप्रसन्न तो नहीं हो जाती? अप्रसन्न न होना चाहिए। अपराधियों को भी क्षमादान देना तप-स्वियों का धर्म्म है।

"महात्माओं से मैंने सुना है कि जिनका रूप सुन्दर होता है उनसे कोई भी बुरा काम नहीं होता। पापाचरण से वे सदा ही दूर भागते हैं। यह कथन सर्वथा सच है। ... विशालनयनी! तेरा शील-स्वभाव तो इतना उदार और उत्तम है कि बड़े-बड़े ज्ञानी-विज्ञानी ऋषि-मुनि भी इस विषय में तुमसे शिक्षा ले सकते हैं। सुशीलता में तो तूने उन्हें भी मात कर दिया।

"गङ्गाजी का सलिल-समूह देवलोक से प्राप्त होता है। ... कारण उसकी पवित्रता किसी से छिपी नहीं। सप्तर्षि ... उसकी पूजा करते हैं और अपने हाथ से तोड़े गये फूल ... पर चढ़ाते हैं। वे फूल जब भगवती मन्दाकिनी की धारा में बहते हैं तब ऐसा मालूम होता है जैसे उनके बहाने वह हँस रही हो। ऐसी पुण्य-सलिला मन्दाकिनी तेरे पिता हिमालय ही पर बहती है। अतएव उसके सौभाग्य की क्या बात है! परन्तु मन्दाकिनी की उस सप्तर्षि-पूजित धारा से भी तेरा

पिता हिमालय उतना पवित्र नहीं हुआ था जितना कि तेरे इन पवित्र चरितों और तपश्चरणों से पवित्र हुआ है। तूने तो अकेले अपने पिता ही को नहीं, किन्तु उसके सारे वंश को भी पवित्र कर दिया।

"धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों मिलकर त्रिवर्ग कहाते हैं। आज तेरा धर्मानुष्ठान देखकर मुझे ऐसा मालूम होता है कि इन त्रिवर्ग में एकमात्र धर्म ही सबसे अधिक महत्त्व-वाला है। वही इन तीनों का सार है। यदि ऐसा न होता तो अर्थ और काम से अपने मन को एकदम ही खींचकर उसे तू एकमात्र धर्म ही में क्यों लगाती। तूने उसी को सर्व-श्रेष्ठ समझा। इसी से उसका आश्रय लिया। यह बात मुझे आज मालूम हुई।

"तूने तो मेरा बहुत ही सत्कार किया। मैं तेरे इस आदर-सत्कार से कृतार्थ हो गया। मेरी प्रार्थना है कि तू अब मुझे परकीय न समझ। मैं अब ग़ैर नहीं रहा। हे नत-गात्री! विद्वानों का कहना है कि दूसरे के साथ सात बातें हो जाने से ही परस्पर मित्रता हो जाती है। अतएव मेरे साथ तुझे मित्रवत् ही व्यवहार करना चाहिए। मैं तुझसे कुछ पूछना चाहता हूँ। मैं द्विज हूँ। और द्विज स्वभाव ही से वाचाल और चपल हुआ करते हैं। तू तपोधनी है। क्षमा भी तुझमें बहुत है। इस कारण मुझे विश्वास है कि तू मेरी इस वाचालता और ढिठाई के लिए मुझे क्षमा कर

देगी और जो कुछ मैं पूछने जाता हूँ वह, यदि गोपनीय नहीं तो, मुझे बता देगी। मैं यह जानना चाहता हूँ कि—

"हिरण्यगर्भ नामक पहले प्रजापति के कुल में तो तेरा जन्म हुआ है। रूप तुझे इतना सुन्दर मिला है कि जान पड़ता है, त्रिलोकी के सौन्दर्य ने तेरे ही शरीर का आश्रय लिया है। ऐश्वर्य की भी कुछ कमी नहीं। संसार के सारे सुख तुझे प्राप्त हैं। उम्र भी तेरी नई है। इस दशा में और किस वस्तु की प्राप्ति के लिए तू इतनी कठोर तपस्या कर रही है। कृपा करके बता तो, तू चाहती क्या है? मानवती नारियों का यदि कोई बहुत ही दुःसह अनिष्ट हो जाता है तो वे संसार से विरक्त होकर वन में रहने और तपस्या करने लगती हैं। परन्तु जहाँ तक मेरी बुद्धि काम देती है, इस तरह का तेरा कोई अनिष्ट नहीं हुआ। फिर हे कृशोदरी! तेरी इस तपस्या का कारण क्या है? यह भी तो सम्भव नहीं कि किसी ने तेरा अपमान किया ा। तेरी यह अलौकिक सौन्दर्यशालिनी मूर्ति भला अपमान न्य है! फिर, प्रतापी पिता के घर ऐसा हो भी तो नहीं ता। किसी ने तेरे ऊपर हाथ चलाया हो या तेरा तिरस्कार किया हो, यह भी असम्भव है। हे सुन्दर भौंहोंवाली! संसार में ऐसा कौन मूर्ख होगा जो काले नाग की मणि छीनने के लिए उसके सिर पर हाथ चलावेगा? तेरा यह यौवनपूर्ण सुन्दर शरीर अच्छे-अच्छे आभूषण पहनने योग्य है। तूने उन्हें तो फेंक दिया है और पेड़ों की कर्कश छाल शरीर पर

डाल रक्खी है। ऐसा वल्कल-वस्त्र बुढ़ापे में चाहे भले ही अच्छा लगे; परन्तु तरुणावस्था में नहीं अच्छा लगता। मैं तुझी से पूछता हूँ कि सायङ्काल जब पूर्ण चन्द्रमा भी उदित है और तारे भी चमक रहे हैं तब रात क्या कभी सूर्य के सारथी अरुण के दर्शनों की इच्छा कर सकती है? क्या कभी वह यह चाहेगी कि असमय में ही प्रातःकाल हो जाय? सायङ्काल यदि सूर्य का उदय युक्ति-सङ्गत माना जाय तो इस तरुण वय में तेरा जटाजूट और वल्कल धारण करना भी युक्ति-सङ्गत माना जा सकेगा।

"यदि तू स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा से तप कर रही है तो यह तेरा सारा श्रम बिलकुल ही व्यर्थ है। स्वर्ग तो तुझे योंही प्राप्त सा है। क्योंकि, देवभूमि तेरे पिता ही के देश में है, कहीं अन्यत्र नहीं। यदि पति-प्राप्ति की इच्छा से तूने समाधि लगाई है तो अब आज ही इसकी समाप्ति कर दे। इस इच्छा की पूर्ति के लिए तपश्चरण की क्या आवश्यकता? भला कहीं रत्न भी ग्राहक को ढूँढ़ने जाता है! ग्राहक तो स्वयं ही रत्न के पास आ जाता और उसका ग्रहण करता है।

"पति शब्द का उल्लेख सुनते ही तूने तो दीर्घ साँस ली। जान पड़ता है, तेरी तपस्या का यही कारण है। परन्तु मेरा मन नहीं मानता। मुझे तो फिर भी सन्देह हो रहा है। मुझे तो ऐसा एक भी पुरुष-रत्न नहीं दिखाई देता जिसकी प्राप्ति के लिए तुझे प्रार्थना करनी [illegible] पर भी जो तुझे न

मिल सके, ऐसे पुरुष का होना तो त्रैलोक्य में भी सम्भव नहीं। कृपा करके मेरे इस सन्देह को दूर कर दे।

"जब तू अपने कानों में कमल के कुण्डल पहनती थी तब वे तेरे कपोलों पर लटककर उनकी शोभा बढ़ा देते थे। पर जब से तू इस तपोवन में आई है तब से कमलों के कुण्डल तू नहीं धारण किये। अब तो उन कुण्डलों के बदले पके हुए धानों के रङ्ग की लम्बी-लम्बी भूरी जटाएँ तेरे कपोलों पर लटक रही हैं। कमल-कुण्डल-शून्य तेरे कपोलों पर लटकी हुई इन जटाओं को देखकर भी जिस युवा को तुझ पर दया नहीं आती उसका हृदय निस्सन्देह वज्र का है। अत्यन्त कठोर मुनि-व्रतों का साधन करते-करते तूने अपने शरीर ‹ दुर्गति कर डाली है। देख तो, तू कितनी दुबली हो रही है जहाँ पर तू सुन्दर-सुन्दर आभूषण धारण करती थी वहाँ पर अब आभूषण तो नहीं, एक और ही हृदय-दाहक दृश्य दिखाई दे रहा है। सूर्य की तीव्र किरणों से वह जगह काली पड़ गई है। वहाँ पर अब आभूषणों के बदले कालिमा दिखाई दे रही है! हाय, हाय, तू तो इस समय दिन में उदित चन्द्रलेखा के समान कृश और मलिन हो गई है। तेरा यह हाल देखकर ऐसा कौन सचेतन मनुष्य होगा जिसका हृदय न विदी‹ हो जाय? जिसकी प्राप्ति के लिए तू इतना घोर तप कर रही है वह न मालूम कैसा मनुष्य है। वह अपने सौन्दर्य पर अवश्य ही घमण्ड करता होगा। परन्तु उसे यह ख़बर नहीं

कि उसका यह घमण्ड उसी के सौभाग्य का विघातक है। वह तो उसके साथ छल सा कर रहा है। अपने मुखावलोकन से चिरकाल तक तृप्त करने के लिए, कुटिल पलकों से युक्त तेरे इन सुन्दर दृष्टिवाले नेत्रों के सामने, उसे तुरन्त ही उपस्थित हो जाना चाहिए था। परन्तु तुझे दर्शन देना तो दूर रहा, उस कठोर-हृदय पुरुष ने तेरी सुध तक न ली। अतएव वह अवश्य ही बड़ा जड़ और मन्दभागी है।

"शैलकुमारी! कब तक तू इस तरह घोर तप करती रहेगी? तुझे देखकर मुझको महादुःख हो रहा है। तू एक बात कर। ब्रह्मचर्य-आश्रम में मैंने भी बहुत सा तप किया है। वह सब अब तक सञ्चित है। उसका अर्द्धभाग मैं तुझे देता हूँ। अपने और मेरे तप के बल से तू अपने वाञ्छित वर की प्राप्ति कर। परन्तु कृपा करके उसका नाम-धाम तो बता दे। यदि वह तेरे योग्य होगा तो मैं भी उसकी प्राप्ति के सम्बन्ध में अपनी सम्मति दे दूँगा।"

उस ब्रह्मचारी ने आश्रम में आकर पार्वती से जब ऐसी बातें कहीं तब वह यह सोचने लगी कि मैं इसके प्रश्न का कैसे उत्तर दूँ। यह ऐसी बात पूछ रहा है जिसका उत्तर देना कुल-कन्याओं को उचित नहीं। अतएव स्वयं कुछ न कहकर उसने पास ही बैठी हुई अपनी सखी से, अपने कज्जलहीन नेत्रों द्वारा, इशारा कर दिया। आँख के इशारे ही से उसने ब्रह्मचारी की बात का उत्तर देने की प्रेरणा की। पार्वती की आज्ञा से उसकी सखी बोली—

"ब्रह्मचारीजी, मेरी सखी की तपस्या का कारण सुनने के लिए यदि आपका हृदय इतना कुतूहल-पूर्ण हो रहा है तो सुन लीजिए। मैं आपसे निवेदन किये देती हूँ कि यह क्या चाहती है। सूर्य की धूप से बचने के लिए कमल के फूलों का छाता नहीं लगाया जाता। परन्तु मेरी सखी ने कुछ ऐसी ही बात की है। जिस फल की प्राप्ति यह चाहती है वह कठिन शरीरधारी तपस्वियों ही की तपस्या से प्राप्त हो सकता है। परन्तु इसने उसी की प्राप्ति के लिए अपने इस अत्यन्त कोमल शरीर से तपस्या आरम्भ की है—उसका य तपः-साधन धूप निवारण के लिए कमल-पुष्पों के छाते के सदृश है। मेरी मानिनी सखी महा ऐश्वर्यशाली इन्द्र आदि दिक्पालों को भी कुछ न समझकर पिनाकपाणि शिवजी को अपना पति बनाना चाहती है—उन शिवजी को जिन्होंने मनोभव का नाश कर दिया है; अतएव जो शरीर-सौन्दर्य द्वारा नहीं जीते जा सकते। कामवासना न होने से सुन्दर रूप उनको नहीं लुभा सकता—सुरूप-सौन्दर्य से उन्हें वशीभूत करना सम्भव नहीं। इसी से अपने सौन्दर्य को निष्फल समझकर मेरी सखी तपश्चर्या द्वारा शिवजी को वशीभूत करने की चेष्टा कर रही है। इस बेचारी की दुर्दशा का मैं कैसे वर्णन करूँ। जिस समय पुष्पधन्वा ने शिवजी पर चढ़ाई की उस समय यह वहीं मौजूद थी। मनोभव के धनुष से बाण छूटता देख शङ्कर के मुख से ऐसा 'हुङ्कार'

निकला कि वह बाण उन तक पहुँचे बिना ही लौट गया। वह शिवजी तक तो न पहुँचा, वहाँ खड़ी हुई मेरी सखी के हृदय के भीतर तक धँस गया। शिवजी के उस 'हुङ्कार' से उत्पात-निरत रति-पति तो जलकर वहीं ख़ाक हो गया, परन्तु उस जले हुए के भी उस शर ने इसके हृदय को जर्जर कर डाला। उस दिन से इसकी नींद-भूख जाती रही। पिता के घर में यह पागल की तरह दिन काटने लगी। वेणी बाँधना तक इसने छोड़ दिया। इसके चन्दन-चर्चित ललाट पर सदा लटके रहने से इसके केश चन्दन-चूर्ण से परिपूर्ण होते रहे। फिर भी इसने उन्हें न सँभाला। इसके शरीर में इतना उत्ताप उत्पन्न हो गया कि बर्फ़ जमी हुई शिलाओं पर लोटने से भी उसकी शान्ति न हुई। जब यह बहुत व्याकुल हो जाती तब दूर, गहन वन में, चली जाती। वहाँ इसे आई देख किन्नरों की कन्याएँ भी इसके पास आ जातीं। एकान्त में वहाँ यह पिनाकपाणि का कीर्तन करके किसी तरह अपना मनोरञ्जन करना चाहती। परन्तु गाना आरम्भ करने पर इसका कण्ठ ऐसा रुँध जाता कि ठीक-ठीक शब्द ही इसके मुख से न निकलते। इसकी ऐसी दयनीय दशा देखकर इसके पास बैठी हुई किन्नरों की कन्याएँ भी रोने लगतीं।

"इसे रात को नींद आना बन्द हो गया। रात के पहले तीन पहर इसे जागते ही बीतते। यदि चौथे पहर कुछ झपकी आ भी जाती तो इसे ऐसा भ्रम होता कि शिवजी

अपना बाहुबन्धन मेरे कण्ठ में डाल रही है। अतएव वह तत्काल जग पड़ती और कहती—'नीलकण्ठ ! मुझे इस प्रकार धोखा देना बड़ी ही निर्दयता है। कहाँ जाते हो? क्षण भर तो अपने दर्शनों से मेरे नेत्रों को कृतार्थ करो।'

"कभी-कभी यह अपने कमरे में जाकर महादेवजी का चित्र खींचती। जब चित्र तैयार हो जाता तब चित्रगत शिवजी से कहती कि विद्वान् और ज्ञानी जन तो आपको सर्वव्यापी और सर्वज्ञ कहते हैं। फिर आप मेरे मन की बात क्यों नहीं जान लेते ? मेरे हृदयस्थ भाव को जानकर भी मुझे इस प्रकार सताना क्या निष्ठुरता नहीं? इसी तरह यह मेरी मुग्धा सखी एकान्त में चन्द्रशेखर शङ्कर का उपालम्भ किया करती। बहुत दिन तक यह तीव्र सन्ताप सहती और गुरुतर दुःख पाती रही। जब इसने देखा कि भगवान् भूतभावन किसी तरह इसे नहीं मिल सकते तब यह, पिता की आज्ञा से, हम लोगों को साथ लेकर इस तपोवन में चली आई और तपस्या करने लगी। इसने सोचा कि अब अपनी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए इसके सिवा और कोई उपाय काम न देगा।

"इसे यहाँ आये बहुत समय बीत गया। मानो अपनी तपस्या के साक्षी बनाने ही के लिए इसने अपने ही हाथ से इस आश्रम में जिन पेड़ों को लगाया था उनमें भी, देखिए फल आने लगे। परन्तु शशिमौलि शङ्कर से सम्बन्ध रखने-वाले इसके मनोरथ-रूपी पौधे का अब तक चिह्न भी नहीं

दिखाई दिया; अङ्कुर तक का अब तक कहीं पता नहीं। उग्र तपस्या करने के कारण इसके इस कृश शरीर को देख-देखकर हम लोग दिन-रात रोया करती हैं। परन्तु मैं नहीं जानती, इतनी प्रार्थना और इतने धर्मानुष्ठान करने पर भी भगवान् शङ्कर को इस पर दया क्यों नहीं आती। प्रार्थना करने पर भी वे सर्वथा दुर्लभ हो रहे हैं। पानी न बरसाने से सन्तप्त हुए खेतों की भूमि को इन्द्र के सदृश, नहीं मालूम, कब वे इसे सन्तुष्ट करेंगे।"

इस तरह पार्वती की सखी ने पार्वती के हृदय की बात साफ़-साफ़ कह दी। पार्वती के इशारे ही से वह समझ गई थी कि शैलजा इस ब्रह्मचारी से कुछ भी छिपाना नहीं चाहती।

सखी की पूर्वोक्त बातें सुनकर उस निष्ठावान् सुन्दर ब्रह्मचारी ने हर्ष के कोई लक्षण न प्रकट किये। मुख पर विकार के कोई चिह्न प्रकट किये बिना ही पार्वती से उसने सिर्फ़ इतना ही पूछा कि जो कुछ तेरी सखी ने कहा, क्या वह सच है? यह कहीं मुझसे परिहास तो नहीं कर रही है?

ब्रह्मचारी का यह प्रश्न सुनकर शैल-सुता पार्वती ने स्फटिक की माला फेरना बन्द कर दिया। उसे उसने अपनी मुट्ठी के हवाले किया। फिर उसने मन ही मन कहा कि अब तक तो मैं चुप्पी साधे रही। पर अब इसके प्रश्न का परिमित उत्तर देना ही पड़ेगा। यह निश्चय करके उसने दो-चार शब्दों में ब्रह्मचारी के उस प्रश्न का इस प्रकार उत्तर दिया—

"हे वैदिक-श्रेष्ठ! आपसे जो कुछ इसने निवेदन किया सब सच है। मेरा यह अकिञ्चित्कर शरीर बहुत ही ऊँचे पदार्थ की प्राप्ति की कामना कर रहा है। उसे और किसी तरह प्राप्त न होता देख मैंने यह तपश्चरण आरम्भ किया है। वाञ्छित फल की महत्ता के सामने मेरा यह साधन अत्यन्त ही तुच्छ है। इससे उसकी प्राप्ति की बहुत कम सम्भावना है। तथापि दुराशा क्या नहीं कराती? उसके पाश में फँसकर मनुष्य अपनी शक्ति का सामर्थ्य भूल जाते हैं। बात यह है कि मनोरथों की गति सभी कहीं है। मन कहाँ नहीं जाता? वह सर्वत्र ही जा सकता है।"

पार्वती की बात सुनकर ब्रह्मचारी बोला—

"मैं महेश्वर को अच्छी तरह जानता हूँ। वही महेश्वर न, जो एक बार तेरे मनोरथ को रसातल पहुँचा चुके हैं! उनमें तेरी प्रीति अब तक बनी हुई है? फिर भी तुझे उनकी याद है? मुझे खेद है, मैं तेरे इस अनुचित काम का समर्थन नहीं कर सकता, क्योंकि जिनको तू चाहती है वे तेरे अनुरूप नहीं। क्या तू नहीं जानती कि उनके आचरण अत्यन्त ही अमङ्गल-मूलक हैं? तूने तो अविवेक की पराकाष्ठा कर दी। ऐसी तुच्छ वस्तु की प्राप्ति की इच्छा अविवेकियों के सिवा और कोई नहीं कर सकता। जान पड़ता है, तूने बिना ही सोचे-समझे अशुभ रूप शिव से विवाह करने का निश्चय किया है। यदि उनके साथ तेरा विवाह हो गया तो तुझे बहुत बड़ी आपदाएँ

[illegible]गनी पड़ेंगी। तेरा कर-कमल तो वैवाहिक मङ्गल-सूत्र से [illegible]जाया जायगा और तेरे प्रेम-पात्र महादेव का कर काले भुजङ्गों [illegible] कड़ों से—उसी से वे तेरा पाणिग्रहण करेंगे। उस समय [illegible]न विषधर साँपों की फुफकार से तेरी क्या दशा होगी, यह [illegible] तूने नहीं सोचा। विवाहारम्भ के समय ही जब तुझ[illegible]र ऐसी बीतेगी तब आगे न मालूम और क्या-क्या होगा। [illegible]न्थिबन्धन के समय तू तो बेल-बूटेदार बड़ी ही सुन्दर रेशमी [illegible]ाड़ी पहनेगी और तेरे प्यारे पशुपति रुधिर टपकता हुआ [illegible]ाथी का चर्म पहनेंगे। तू तो समझदार है। तू ही कह [illegible]क भला ऐसी सुन्दर साड़ी का संयोग क्या ऐसे वीभत्स गज-[illegible]र्म से होने योग्य है? उनकी तो परस्पर गाँठ भी न दी [illegible]ा सकेगी।

"तेरे पिता का घर कैसा दिव्य है। उसके आँगन तक में [illegible]ल खिले रहते हैं। उन्हीं फूलों के ऊपर जब तू महावर लगे [illegible]ए अपने कमल-कोमल चरणों से चलती रही है तब उस महा-[illegible]र के चिह्न उन पर बन जाते रहे हैं। परन्तु यदि तेरा विवाह [illegible]तनाथ से हो गया तो तुझे उन्हीं पैरों से उस श्मशान-भूमि [illegible]र चलना पड़ेगा जहाँ मुर्दों की खोपड़ियाँ और मुर्दों ही के [illegible]ाल बिखरे पड़े रहते हैं। मित्रों की तो बात ही नहीं, तेरे शत्रु [illegible]भी कभी न चाहेंगे कि पिनाकपाणि का पाणिग्रहण करके तू [illegible]ाल बिछे हुए श्मशान में घूमती फिरे। अभी तक तू अपने [illegible]रीर पर केसर, कस्तूरी और हरिचन्दन का लेप लगाती रही

डर लगता है। सबके दो ही आँखें होती हैं, उनके तीन हैं। रहा कुल, सो उनके माता-पिता तक का पता नहीं। वे कौन हैं, और कहाँ किसके घर पैदा हुए, यह भी कोई नहीं जानता। उनके धन और ऐश्वर्य का हाल तो उनका दिगम्बर रूप ही पुकार-पुकारकर बता रहा है। और चीज़ें तो दूर रहीं, लँगोट तक उनके शरीर पर नहीं। हे मृगशावकलोचनी! फिर भला क्या देखकर तू त्रिलोचन पर मुग्ध हो रही है? वर में जो बातें देखी जाती हैं उनमें से सब का होना तो दूर रहा, मुझे तो उनमें एक भी नहीं दिखाई देती। अतएव तुझसे मेरी विनीत प्रार्थना है कि तू अपना मन्द मनोरथ छोड़ दे। शङ्कर से विवाह करने के अनुचित अभिलाष को तुझे अपने हृदय से एकदम दूर कर देना चाहिए। कहाँ पुण्यशीला तू और कहाँ महा-अमङ्गलमूल महादेव! तेरा उनका क्या साथ! यज्ञों में पशु-बन्धन के साधनीभूत यूप नामक काष्ठ-खण्ड की जो पूजा याज्ञिकों के हाथ से होती है, उसे श्मशान में शूली देने के लिए गाड़ा गया खम्भ नहीं पा सकता।"

उस ब्रह्मचारी के मुख से निकले हुए ऐसे प्रतिकूल वचन सुनकर पार्वती की भौंहों में बल पड़ गया; आँखें लाल हो गईं; क्रोध के मारे ओठ फड़कने लगे। उससे न रहा गया। उसने नेत्रों को तिरछा करके उस ब्रह्मचारी की ओर घृणा की दृष्टि से देखा। फिर उसे इस तरह फटकारना शुरू किया—

"तुझे शङ्कर का सच्चा ज्ञान ही नहीं। तू उन्हें क्या
जाने? यदि तुझे उनकी सच्ची पहचान होती तो तेरे मुँ-
से ऐसे निन्दा-वाक्य कदापि न निकलते। महात्माओं
चरित अलौकिक हुआ करते हैं। उनकी बातें साधारण जने
की बातों से सदा ही भिन्न हुआ करती हैं। असाधारणता
ही के कारण वे मन्दमतियों की समझ में नहीं आतीं। इसी
से वे उनकी निन्दा करते हैं। विपत्ति से बचने की इच्छा
रखने और ऐश्वर्य-भोग की कामना करनेवाले ही लोग गन्ध-
माल्य आदि मङ्गलसूचक पदार्थों के पीछे पड़े रहते हैं। नाना
प्रकार की आशाओं से कलुषित-वृत्तिवाले पुरुषों ही को उनका
आश्रय लेना पड़ता है। मङ्गलमय भगवान् शङ्कर ऐसे नहीं।
न उन्हें किसी विपत्ति से डर है, न उन्हें सुख और ऐश्वर्य की
इच्छा। फिर उन्हें क्यों ऐसी चीज़ों की परवा हो? सारा
संसार तो स्वयं उन्हीं से ऐश्वर्य-प्राप्ति की कामना करता है और
उन्हीं की शरण जाता है। यह तुझे मालूम ही नहीं। धन-
हीन होकर भी वही सारे संसार को सारे धन और सारी
सम्पदाएँ देते हैं। श्मशान में रहकर भी वही तीनों लोकों
का शासन करते हैं, क्योंकि त्रैलोक्य के स्वामी वही हैं।
भयङ्कर-रूपधारी होकर भी कल्याणकारी शिव भी वही हैं।
बात तो यह है कि उनके सम्बन्ध का सच्चा-सच्चा ज्ञान किसी
को है ही नहीं। ऐसे अलौकिक महिमामय महादेव का
श्मशान में रहना, चिता-भस्म लगाना और बैल पर चढ़ना

आदि क्या दोष में गिना जा सकता है? वे तो प्रत्यक्ष विश्व-मूर्ति हैं। यह सारा संसार उन्हीं की मूर्ति के अन्तर्गत है। इस दशा में उन्हें कोई यह कैसे कह सकता है कि वे बहुमूल्य आभूषण पहने हुए हैं या साँप लपटाये हुए हैं? गज-चर्म धारण किये हुए हैं या बहुमूल्य रेशमी शाल ओढ़े हुए हैं? ब्रह्मकपालों की माला उन्होंने पहन रक्खी है या शीश पर चारु चन्द्रमा की कला धारण कर रक्खी है? जो विश्वमूर्ति है उसकी मूर्ति के बाहर भी क्या कोई पदार्थ हो सकता है? संसार के सुन्दर-सुन्दर पदार्थ क्या उसकी मूर्ति के अन्तर्गत नहीं? तू चिता-भस्म को अपावन समझता है; परन्तु शङ्कर के अङ्गस्पर्श से वह इतनी पावन हो जाती है जिसका तुझे ज्ञान ही नहीं। ताण्डव-नृत्य के समय उनके शरीर से जो कण गिर पड़ते हैं उन्हें इन्द्र आदि बड़े-बड़े देवता भी उठा-उठाकर अपने मस्तकों पर चढ़ाते हैं। फिर भी तू चिता-भस्म को अशुद्ध ही समझता है? तेरी इस नासमझी को देखकर आश्चर्य होता है। अच्छा यही सही कि सम्पदाहीन होने के कारण ही वे बैल पर सवार होते हैं। परन्तु उन निर्धनी वृषभवाहन के प्रभाव की भी तुझे कुछ ख़बर है? मदस्रावी ऐरावत पर चढ़नेवाला इन्द्र उनके पैरों पर अपना सर रगड़ता है और प्रफुल्ल मन्दार-पुष्पों की रज से उनकी अँगुलियों को लाल कर देता है।

"जान पड़ता है, महात्माओं में दोष दिखाने की तेरी आदत सी है। उसी नष्ट स्वभाव के कारण ही तूने निर्दोष शिवजी

"सखी! देख यह फिर भी कुछ बकवाद करना चाहता है, क्योंकि इसका ओंठ फड़क रहा है। इसे रोक दे। हरगिज़ यह अपने मुख से अब एक शब्द भी बाहर न निकाले। जो मन्दात्मा महात्माओं की निन्दा करते हैं वही पाप नहीं कमाते; बल्कि उनके मुख से निकली हुई निन्दा सुननेवाले भी पापभागी होते हैं। अतएव अब और अधिक कहने-सुनने की कुछ भी आवश्यकता नहीं। अथवा मैं ही इसके पास से क्यों न उठ जाऊँ? लो, यह मनमाना प्रलाप करे, मैं जाती हूँ।"

यह कहकर पार्वती उठ खड़ी हुई। क्रुद्ध होने और शीघ्रतापूर्वक उठने के कारण उसका वल्कल-वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गया। इसी दशा में अपना असली रूप धारण करके मुस-कराते हुए भगवान् शशिशेखर ने उसे पकड़ लिया।

शङ्कर को देखते ही पार्वती थर-थर काँपने लगी। उसका शरीर पसीने में डूब गया। चलने के लिए उठा हुआ उसका एक पैर वैसा ही उठा रह गया। रास्ते में बड़े भारी पहाड़ के सहसा आ जाने पर व्याकुल हुई नदी की जो दशा होती है वही दशा पार्वती की भी हुई। न वह वहाँ से चली ही जा सकी और न अच्छी तरह जमकर खड़ी रह सकी।

चन्द्रमौलि महादेव ने पार्वती का हाथ पकड़कर कहा—

"हे नतगात्रि! आज से मैं तेरा क्रीतदास हुआ। अपनी तपश्चर्या से तूने मुझे मोल ले लिया।"

यह सुनते ही पार्वती का सारा तपोजन्य क्लेश दूर हो गया। बात यह है कि फल-प्राप्ति होने से उसके लिए उठाया गया क्लेश फिर नहीं ठहर सकता। वह समूल भूल जाता है और हृदय फिर हरा-भरा हो जाता है।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

(८) समीर और सुमन

समीर—(सुमन से) तुम सौरभ के बोझ से दबे जाते हो। लाओ, मैं तुम्हारा भार-संवहन करूँ।

सुमन—(सिर हिलाकर) नहीं, मुझे इससे नति मिलती है और उस नति का मुझे गर्व है!

समीर—(सुमन के कपोल पर एक मीठी थपकी लगाते हुए) नति का गर्व—बड़ी विचित्र बात है। हाँ, तू चार दिन के लिए फूलता है, इसी से तेरी बुद्धि ऐसी विचित्र है।

सुमन—और तू दूसरे का भार-संवहन करने में मतवाला हुआ नहीं डोलता?

समीर—क्यों? दूसरे का भार वहन करने का गर्व होना स्वाभाविक ही है।

सुमन—(और भी खिलकर) किन्तु विचार तो करो, यदि तुम दूसरे के गौरव से झूम सकते हो तो मैं अपने ही मोद में भी न झूमूँ!

समीर—तो क्या नति गौरव का जन्म देने के लिए होती है?

सुमन—नहीं, गौरव ही से नति का उद्भव है।

समीर—और तुम मुझे मुझी से वञ्चित रखना चाहते हो।

सुमन—ध्यान रक्खो कि पराई निधि अपने पर ओढ़कर यदि तुम बड़े बनना चाहोगे तो तुम्हारी गति में मन्दता अवश्य आ जायगी, और तो कुछ न होगा।

समीर—मेरी चाहे जो भी कदर्थना हो, पर, मैं तुम्हारा सौरभ तो निखिल विश्व में फैलाऊँगा।

सुमन—नहीं, मेरा जन्म इसी लिए होता है कि मैं चार दिन इसी वृन्त पर झूलूँ। अपने सौरभ से मत्त होकर यहीं झूमूँ और फिर चुपचाप अपनी माता धरित्री की गोद में चिर-विश्राम ले लूँ। मेरा आमोद तुम मुझसे हरण करते हो तो वह बेचारा मेरी खोज में दर-दर मारा फिरता है और अन्त को शतधा विकीर्ण हो हाय-हाय करता हुआ तुम्हारे सङ्ग हवा हो जाता है। मेरा आमोद मेरे हृदय से न बिलगाओ।

समीर—अच्छा, तो यहाँ से चला जाऊँ?

सुमन—हाँ, तुम मेरी चार दिन की शान्ति भङ्ग न करो।

तब वह पवन द्रुत गति से चल पड़ा कि उस पुष्प की पखड़ियाँ बिखरकर, क्षणभर के लिए अन्तरिक्ष में लहराती हुई, धराशायी हो गईं।

—राय कृष्णदास

---

(६) मन्त्र

(१)

सन्ध्या का समय था। डाक्टर चड्ढा गोल्फ़ खेलने को तैयार हो रहे थे। मोटर द्वार के सामने खड़ी थी कि दो कहार एक डोली लिये आते दिखाई दिये। डोली के पीछे एक बूढ़ा लाठी टेकता चला आता था। डोली औषधालय के सामने आकर रुक गई। बूढ़े ने धीरे-धीरे आकर द्वार पर पड़ी हुई चिक से झाँका। ऐसी साफ़-सुथरी ज़मीन पर पैर रखते हुए भय हो रहा था कि कोई घुड़क न बैठे। डाक्टर साहब को मेज़ के सामने खड़े देखकर भी उसे कुछ कहने का साहस न हुआ।

डाक्टर साहब ने चिक के अन्दर से गरजकर कहा—कौन है? क्या चाहता है?

बूढ़े ने हाथ जोड़कर कहा—हज़ूर, बड़ा गरीब आदमी हूँ। मेरा लड़का कई दिन से......

डाक्टर साहब ने सिगार जलाकर कहा—कल सवेरे आओ, कल सवेरे; हम इस वक्त मरीज़ों को नहीं देखते।

बूढ़े ने घुटने टेककर ज़मीन पर सिर रख दिया और बोला—दुहाई है सरकार की, लड़का मर जायगा। हज़ूर, चार दिन से आँखें नहीं......।

डाक्टर चड्ढा ने कलाई पर नज़र डाली केवल १० मिनट समय और बाक़ी था। गोल्फ़-स्टिक खूँटी से उतारते हुए बोले—कल सबेरे आओ, कल सबेरे; यह हमारे खेलने का समय है।

बूढ़े ने पगड़ी उतारकर चौखट पर रख दी और रोकर बोला—हजूर एक निगाह देख लें। बस एक निगाह! लड़का हाथ से चला जायगा हजूर, सात लड़कों में यही एक बच रहा है हजूर, हम दोनों आदमी रो-रोकर मर जायँगे, सरकार, आपकी बढ़ती होय; दीनबन्धु।

ऐसे उजड्ड देहाती यहाँ प्राय: रोज़ ही आया करते थे। डाक्टर साहब उनके स्वभाव से खूब परिचित थे। कोई कितना ही कुछ कहे; पर वे अपनी ही रट लगाते जायँगे। किसी की सुनेंगे नहीं। धीरे से चिक उठाई और बाहर निकलकर मोटर की तरफ़ चले। बूढ़ा यह कहता हुआ उनके पीछे दौड़ा—सरकार बड़ा धरम होगा, हजूर दया कीजिए, बड़ा दीन-दुखी हूँ, संसार, संसार में कोई और नहीं है, बाबूजी!

मगर डाक्टर साहब ने उसकी ओर मुँह फेरकर देखा तक नहीं। मोटर पर बैठकर बोले—कल सबेरे आना।

मोटर चली गई। बूढ़ा कई मिनट तक मूर्ति की भाँति निश्चल खड़ा रहा। संसार में ऐसे मनुष्य भी होते हैं, जो अपने आमोद-प्रमोद के आगे किसी की जान की भी परवा नहीं करते, शायद इसका उसे अब भी विश्वास न आता था। सभ्य-संसार इतना निर्मम, इतना कठोर है, इसका ऐसा मर्म-

भेदी अनुभव अब तक उसे न हुआ था। वह उन पुराने ज़माने के जीवों में था, जो लगी हुई आग को बुझाने, मुर्दे को कन्धा देने, किसी के छप्पर को उठाने और किसी कलह को शान्त करने के लिए सदैव तैयार रहते थे। जब तक बूढ़े को मोटर दिखाई दी, वह खड़ा टकटकी लगाये उस ओर ताकता रहा। शायद उसे अब भी डाक्टर साहब के लौट आने की आशा थी। फिर उसने कहारों से डोली उठाने को कहा। डोली जिधर से आई थी उधर ही चली गई। चारों ओर से निराश होकर वह डाक्टर चड्ढा के पास आया था। इनकी बड़ी तारीफ़ सुनी थी। यहाँ से निराश होकर फिर वह किसी दूसरे डाक्टर के पास न गया। क़िस्मत ठोक ली।

उसी रात को उसका हँसता-खेलता सात साल का बालक अपनी बाल-लीला समाप्त करके इस संसार से सिधार गया। बूढ़े माँ-बाप के जीवन का यही एक आधार था। इसी का मुँह देखकर जीते थे। इस दीपक के बुझते ही जीवन की अँधेरी रात भाँय-भाँय करने लगी। बुढ़ापे की विशाल ममता टूटे हुए हृदय से निकलकर उस अन्धकार में आर्त स्वर से रोने लगी।

(२)

कई साल गुज़र गये। डाक्टर चड्ढा ने ख़ूब यश और धन कमाया; लेकिन इसके साथ ही अपने स्वास्थ्य की रक्षा

भी की, जो एक असाधारण बात थी। यह उनके नियमित जीवन का आशीर्वाद था कि ५० वर्ष की अवस्था में भी उनकी चुस्ती और फुर्ती युवकों को भी लज्जित करती थी। उनके हर एक काम का समय नियत था। इस नियम से वह जौ भर भी न टलते थे। बहुधा लोग स्वास्थ्य के नियमों का पालन उस समय करते हैं जब रोगी हो जाते हैं। डाक्टर चड्ढा उपचार और संयम का रहस्य खूब समझते थे। उनकी सन्तान-संख्या भी इसी नियम के अधीन थी। उनके केवल दो बच्चे हुए, एक लड़का और एक लड़की। तीसरी सन्तान न हुई। इसलिए श्रीमती चड्ढा भी अभी जवान मालूम होती थीं। लड़की का तो विवाह हो चुका था। लड़का कालेज में पढ़ता था। वही माता-पिता के जीवन का आधार था। शील और विनय का पुतला, बड़ा ही रसिक, बड़ा ही उदार, विद्यालय का गौरव, युवक-समाज की शोभा, मुख-मण्डल से तेज की छटा सी निकलती थी। आज उसी की बीसवीं साल-गिरह थी।

सन्ध्या का समय था। हरी-हरी घास पर कुर्सियाँ बिछी हुई थीं। शहर के रईस और हुक्काम एक तरफ़, कालेज के छात्र दूसरी तरफ़ बैठे भोजन कर रहे थे। बिजली के प्रकाश से सारा मैदान जगमगा रहा था। आमोद-प्रमोद का सामान भी जमा था। छोटा सा प्रहसन खेलने की तैयारी थी। प्रहसन स्वयं कैलासनाथ ने लिखा था। वही मुख्य

ऐक्टर भी था। इस समय वह एक रेशमी क़मीज़ पहने, नङ्गे सिर, नङ्गे पाँव, इधर से उधर मित्रों की आव-भगत में लगा हुआ था। कोई पुकारता—कैलास, ज़रा इधर आना; कोई उधर से बुलाता—कैलास, क्या उधर ही रहोगे? सभी उसे छेड़ते थे, चुहलें करते थे. बेचारे को ज़रा दम मारने का अवकाश न मिलता था।

सहसा एक रमणी ने उसके पास आकर कहा—क्यों कैलास, तुम्हारे साँप कहाँ हैं? ज़रा मुझे दिखा दो।

कैलास ने उससे हाथ हिलाकर कहा—मृणालिनी, इस वक़्त क्षमा करो, कल दिखा दूँगा।

मृणालिनी ने आग्रह किया—जी नहीं, तुम्हें दिखाना पड़ेगा, मैं आज नहीं मानने की, तुम रोज़ कल-कल करते रहते हो।

मृणालिनी और कैलास दोनों सहपाठी थे और एक दूसरे के प्रेम में पगे हुए। कैलास को साँपों के पालने, खेलाने और नचाने का शौक़ था। तरह-तरह के साँप पाल रक्खे थे। उनके स्वभाव और चरित्र की परीक्षा करता रहता था। थोड़े दिन हुए, उसने विद्यालय में 'साँपों' पर एक मार्के का व्याख्यान दिया था। साँपों को नचाकर दिखाया भी था। प्राणि-शास्त्र के बड़े-बड़े पण्डित भी यह व्याख्यान सुनकर दङ्ग रह गये थे। यह विद्या उसने एक बूढ़े सपेरे से सीखी थी। साँपों की जड़ी-बूटियाँ जमा करने का उसे मरज़ था। इतना पता भर मिल जाय कि किसी व्यक्ति के पास कोई

अच्छी जड़ी है, फिर उसे चैन न आता था। उसे लेकर ही छोड़ता था। यही व्यसन था। इस पर हज़ारों रुपये फूँक चुका था। मृणालिनी कई बार आ चुकी थी; पर कभी साँपों के देखने को इतनी उत्सुक न हुई थी। कह नहीं सकते, आज उसकी उत्सुकता सचमुच जाग गई थी, या वह कैलास पर अपने अधिकार का प्रदर्शन करना चाहती थी; पर उसका आग्रह बे-मौक़ा था। उस कोठरी में कितनी भीड़ लग जायगी, भीड़ को देखकर साँप कितने चौंकेंगे और रात के समय उन्हें छेड़ा जाना कितना बुरा लगेगा, इन बातों का उसे ज़रा भी ध्यान न आया।

कैलास ने कहा—नहीं, कल ज़रूर दिखा दूँगा। इस वक़्त अच्छी तरह दिखा भी तो न सकूँगा, कमरे में तिल रखने को जगह भी न मिलेगी।

एक महाशय ने छेड़कर कहा—दिखा क्यों नहीं देते जी, ज़रा सी बात के लिए इतना टालमटोल कर रहे हो। मिस गोविन्द, हरगिज़ न मानना। देखें, कैसे नहीं दिखाते!

दूसरे महाशय ने और रद्दा चढ़ाया—मिस गोविन्द इतनी सीधी और भोली हैं, तभी आप इतना मिज़ाज करते हैं। दूसरी सुन्दरी होती, तो इसी बात पर बिगड़ खड़ी होती।

तीसरे साहब ने मज़ाक़ उड़ाया—अजी बोलना छोड़ देता। भला कोई बात है! इस पर आपको दावा है कि मृणालिनी के लिए जान हाज़िर है।

मृणालिनी ने देखा कि ये शोहदे उसे चङ्ग पर चढ़ा रहे हैं, तो बोली—आप लोग मेरी वकालत न करें, मैं ख़ुद अपनी वकालत कर लूँगी। मैं इस वक्त साँपों का तमाशा नहीं देखना चाहती। चलो छुट्टी हुई।

इस पर मित्रों ने ठट्ठा लगाया। एक साहब बोले—देखना तो आप सब कुछ चाहें, पर कोई दिखाये भी तो?

कैलास को मृणालिनी की झेंपी हुई सूरत देखकर मालूम हुआ कि इस वक्त उसका इनकार वास्तव में उसे बुरा लगा है। ज्योंही प्रीति-भोज समाप्त हुआ और गाना शुरू हुआ, उसने मृणालिनी और अन्य मित्रों को साँपों के दरबे के सामने ले जाकर महुअर बजाना शुरू किया। फिर एक-एक ख़ाना खोलकर एक-एक साँप को निकालने लगा। वाह! क्या कमाल था! ऐसा जान पड़ता था कि ये कीड़े उसकी एक-एक बात, उसके मन का एक-एक भाव, समझते हैं। किसी को उठा लिया, किसी को गरदन में डाल लिया, किसी को हाथ में लपेट लिया। मृणालिनी बार-बार मना करती कि इन्हें गरदन में मत डालो, दूर ही से दिखा दो। बस, ज़रा नचा दो। कैलास की गरदन में साँपों को लिपटते देखकर उसकी जान निकली जाती थी। पछता रही थी कि मैंने व्यर्थ ही इनसे साँप दिखाने को कहा; मगर कैलास एक न सुनता था। प्रेमिका के सम्मुख अपने सर्प-कला-प्रदर्शन का ऐसा अवसर पाकर वह कब चूकता। एक मित्र ने टीका की—दाँत तोड़ डाले होंगे?

कैलास हँसकर बोला—दाँत तोड़ ड
काम है। किसी के दाँत नहीं तोड़े गये।
दूँ? यह कहकर उसने एक काले सा
और बोला—मेरे पास इससे बड़ा और ज़ह
नहीं है। अगर किसी को काट ले, तो
फ़ानन में मर जाय। लहर भी न आये।
मन्त्र नहीं। इसके दाँत दिखा दूँ?

मृणालिनी ने उसका हाथ पकड़कर कहा
कैलास, ईश्वर के लिए इसे छोड़ दो! तुम्हारे पै

इस पर एक दूसरे मित्र बोले—मुझे तो f
आता, लेकिन तुम कहते हो तो मान लूँगा।

कैलास ने साँप की गर्दन पकड़कर कहा—न
आप आँखों से देखकर मानिए। दाँत तोड़कर बस
तो क्या किया। साँप बड़ा समझदार होता है।
उसे विश्वास हो जाय कि इस आदमी से मुझे कोई
पहुँचेगी, तो वह उसे हर्गिज़ न काटेगा।

मृणालिनी ने जब देखा कि कैलास पर इस व
सवार है; तो उसने यह तमाशा बन्द करने के विच
कहा—अच्छा भाई, अब यहाँ से चलो, देखो गाना शुरू
गया। आज मैं भी कोई चीज़ सुनाऊँगी। यह कहते
उसने कैलास का कन्धा पकड़कर चलने का इशारा किया
कमरे से निकल गई; मगर कैलास

धान करके ही दम लेना चाहता था। उसने साँप की गर्दन पकड़कर ज़ोर से दबाई, इतनी ज़ोर से दबाई कि उसका मुँह लाल हो गया, देह की सारी नसें तन गईं। साँप ने उसके हाथों ऐसा व्यवहार न देखा था। उसकी समझ में न आता था कि यह मुझसे क्या चाहते हैं। उसे शायद भ्रम हुआ कि ये मुझे मार डालना चाहते हैं। अतएव वह आत्म-रक्षा के लिए तैयार हो गया।

कैलास ने उसकी गर्दन ख़ूब दबाकर उसका मुँह खोल दिया और उसके ज़हरीले दाँत दिखाते हुए बोला—जिन सज्जनों को शक हो, आकर देख लें। आया विश्वास, या अब भी कुछ शक है? मित्रों ने आकर उसके दाँत देखे और चकित हो गये। प्रत्यक्ष प्रमाण के सामने सन्देह को स्थान कहाँ? मित्रों की शङ्का निवारण करके कैलास ने साँप की गर्दन ढीली कर दी और उसे ज़मीन पर रखना चाहा। पर वह काला गेहुवन क्रोध से पागल हो रहा था। गरदन नरम पड़ते ही उसने सिर उठाकर कैलास की उँगली में ज़ोर से काटा और वहाँ से भागा। कैलास की उँगली से टप-टप ख़ून टपकने लगा। उसने ज़ोर से उँगली दबा ली और अपने कमरे की तरफ़ दौड़ा। वहाँ मेज़ की दराज़ में एक जड़ी रक्खी हुई थी, जिसे पीसकर लगा देने से घातक विष भी रफ़ू हो जाता था। मित्रों में हलचल पड़ गई। बाहर महफ़िल में भी ख़बर हुई। डाक्टर साहब घबड़ाकर दौड़े। फ़ौरन्

उँगली की जड़ कसकर बाँधी गई और जड़ी पीसने के लिए दी गई। डाक्टर साहब जड़ी के क़ायल न थे। वह उँगली का डसा भाग नश्तर से काट देना चाहते थे; कैलास को जड़ी पर पूर्ण विश्वास था। मृणालिनी प्यानो पर बैठी हुई थी। यह ख़बर सुनते ही दौड़ी और कैलास की उँगली से टपकते हुए ख़ून को रूमाल से पोंछने लगी। जड़ी पीसी जाने लगी, पर उसी एक मिनट में कैलास की आँखें झपकने लगीं, ओठों पर पीलापन दौड़ने लगा। यहाँ तक कि वह खड़ा न रह सका। फ़र्श पर बैठ गया। सारे मेहमान कमरे में जमा हो गये। कोई कुछ कहता था, कोई कुछ। इतने में जड़ी पिसकर आ गई। मृणालिनी ने उँगली पर लेप किया। एक मिनट और बीता। कैलास की आँखें बन्द हो गईं। वह लेट गया और हाथ से पङ्खा झलने का इशारा किया। माँ ने दौड़कर उसका सिर गोद में रख लिया और बिजली का टेबुल-फ़ैन लगा दिया गया।

डाक्टर साहब ने झुककर पूछा—कैलास, कैसी तबीयत है? कैलास ने धीरे से हाथ उठा दिया, पर कुछ बोल न सका! मृणालिनी ने करुण स्वर में कहा—क्या जड़ी कुछ असर न करेगी? डाक्टर साहब ने सिर पकड़कर कहा—क्या बतलाऊँ, मैं इसकी बातों में आ गया। अब तो नश्तर से भी कुछ फ़ायदा न होगा।

आध घण्टे तक यही हाल रहा। कैलास की दशा प्रतिक्षण बिगड़ती जाती थी। यहाँ तक कि उसकी आँखें पथरा

गईं, हाथ-पाँव ठण्डे हो गये, सुरत की कान्ति मलिन पड़ गई, नाड़ी का कहीं पता नहीं। मौत के सारे लक्षण दिखाई देने लगे। घर में कुहराम मच गया। मृणालिनी एक ओर सर पीटने लगी, माँ अलग पछाड़ खाने लगी। डाक्टर चड्ढा को मित्रों ने पकड़ लिया, नहीं तो वह नश्तर अपनी गर्दन पर मार लेते।

एक महाशय बोले—कोई मन्त्र झाड़नेवाला मिले, तो सम्भव है अब भी जान बच जाय।

एक मुसलमान सज्जन ने इसका समर्थन किया—अरे साहब, क़ब्र में पड़ी हुई लाशें ज़िन्दा हो गई हैं। ऐसे-ऐसे बाकमाल पड़े हुए हैं।

डाक्टर चड्ढा बोले—मेरी अक़्ल पर पत्थर पड़ गया था कि इसकी बातों में आ गया। नश्तर लगा देता, तो यह नौबत ही क्यों आती। बार-बार समझाता रहा कि बेटा, साँप न पालो; मगर कौन सुनता था! बुलाइए, किसी झाड़-फूँक करनेवाले ही को बुलाइए। मेरा सब कुछ ले ले, मैं अपनी सारी जायदाद उसके पैरों पर रख दूँगा। लँगोटी बाँधकर घर से निकल जाऊँगा; मगर मेरा कैलास, मेरा प्यारा कैलास उठ बैठे। ईश्वर के लिए किसी को बुलाइए।

एक महाशय का किसी झाड़नेवाले से परिचय था। वह दौड़कर उसे बुला लाये; मगर कैलास की सूरत देखकर उसे मन्त्र चलाने की हिम्मत न पड़ी। बोला, अब क्या हो सकता है सरकार, जो कुछ होना था हो चुका!

अरे मूर्ख, यह क्यों नहीं कहता कि जो कुछ न होना था हो चुका। जो कुछ होना था वह कहाँ हुआ? माँ-बाप ने बेटे का सहारा कहाँ देखा! मृणालिनी का कामना-तरु क्या पल्लव और पुष्प से रञ्जित हो उठा? मन के वे स्वर्ण-स्वप्न, जिनसे जीवन के आनन्द का स्रोत बना हुआ था, क्या पूरे हो गये? जीवन के नृत्यमय, तारका-मण्डित सागर में आमोद की बहार लूटते हुए क्या उनकी नौका जलमग्न नहीं हो गई? जो न होना था वह हो गया!

वही हरा-भरा मैदान था, वही सुनहरी चाँदनी एक निःशब्द सङ्गीत की भाँति प्रकृति पर छाई हुई थी, वही मित्र-समाज था। वही मनोरञ्जन के सामान थे। मगर जहाँ ... की ध्वनि थी, वहाँ अब करुण-क्रन्दन और अश्रु-प्रवाह था।

(३)

शहर से कई मील दूर एक छोटे से घर में एक बूढ़ा और बुढ़िया अँगीठी के सामने बैठे जाड़े की रात काट रहे थे। बूढ़ा नारियल पीता था और बीच-बीच में खाँसता था। बुढ़िया दोनों घुटनियों में सिर डाले आग की ओर ताक रही थी। एक मिट्टी के तेल की कुप्पी ताक पर जल रही थी! घर में न चारपाई थी, न बिछौना। एक किनारे थोड़ी सी पुआल पड़ी हुई थी। इसी कोठरी में एक चूल्हा था। बुढ़िया दिन भर उपले और सूखी लकड़ियाँ बटोरती थी।

बूढ़ा रस्सी बटकर बाज़ार में बेच लाता था। यही उनकी जीविका थी। उन्हें न किसी ने रोते देखा, न हँसते। उनका सारा समय जीवित रहने में कट जाता था। मौत द्वार पर खड़ी थी, रोने या हँसने की कहाँ फ़ुरसत! बुढ़िया ने पूछा—कल के लिए सन तो है ही नहीं, काम क्या करोगे?"

'जाकर झगड़ू साह से दस सेर सन उधार लाऊँगा।'

'उसके पहले के पैसे तो दिये ही नहीं, और उधार कैसे देगा?'

'न देगा न सही। घास तो कहीं नहीं गई है। दो पहर तक क्या दो आने की भी न काटूँगा?'

इतने में एक आदमी ने द्वार पर आवाज़ दी—भगत, भगत, क्या सो गये? ज़रा किवाड़ खोलो।

भगत ने उठकर किवाड़ खोल दिये। एक आदमी ने अन्दर आकर कहा—कुछ सुना, डाक्टर चड्ढा बाबू के लड़के को साँप ने काट लिया।

भगत ने चौंककर कहा—चड्ढा बाबू के लड़के को! वही चड्ढा बाबू हैं न, जो छावनी में बँगले में रहते हैं?

'हाँ, हाँ, वही। शहर में हल्ला मचा हुआ है। जाते हो तो जाओ, आदमी बन जाओगे?'

बूढ़े ने कठोर भाव से सिर [illegible] नहीं जाता। मेरी बलाय जाय। वही [illegible] जानता हूँ। भैया को लेकर उन्हीं के [illegible] जा रहे थे।

पैरों पर गिर पड़ा कि एक नज़र देख लीजिए; मगर सीधे मुँह बात तक न की। भगवान् बैठे सुन रहे थे। अब जान पड़ेगा कि बेटे का गम कैसा होता है। कई लड़के हैं ?

'नहीं जी, यही तो एक लड़का था। सुना है, सबने जवाब दे दिया है'।

'भगवान् बड़ा कारसाज़ है। उस वक्त मेरी आँखों से आँसू निकल पड़े थे; पर इन्हें तनिक भी दया न आई थी। मैं तो उनके द्वार पर होता, तो भी बात न पूछता।'

'तो न जाओगे ? हमने तो सुना था सो कह दिया।'

'अच्छा किया, अच्छा किया. कलेजा ठण्डा हो गया, आँखें ठण्डी हो गईं। लड़का भी ठण्डा हो गया होगा ! तुम जाओ। आज चैन की नींद सोऊँगा। (बुढ़िया से) ज़रा तमाखू ले ले। एक चिलम और पीऊँगा। अब मालूम होगा लाला को ! सारी साहिबी निकल जायगी, हमारा क्या बिगड़ा। लड़के के मर जाने से कुछ राज तो नहीं चला गया। जहाँ छः बच्चे गये थे वहाँ एक और चला गया। तुम्हारा तो राज सूना हो जायगा। उसी के वास्ते सबका गला दबा-दबाकर जोड़ा था न ! अब क्या करोगे ? एक बार देखने जाऊँगा; पर कुछ दिन बाद। मिजाज का हाल पूछूँगा।'

आदमी चला गया। भगत ने किवाड़ बन्द कर लिये, तब चिलम पर तमाखू रखकर पीने लगा।

बुढ़िया ने कहा—इतनी रात गये जाड़े-पाले में कौन जायगा।

'अरे दोपहर हो होता, तो मैं न जाता। सवारी दरवाजे पर लेने आती तो भी न जाता। भूल नहीं गया हूँ। पन्ना की सूरत आज भी आँखों में फिर रही है। इस निर्दयी ने उसे एक नजर देखा तक नहीं! क्या मैं न जानता था कि वह न बचेगा? खूब जानता था। चड्ढा भगवान् नहीं थे कि उनके एक निगाह देख लेने से अमृत बरस जाता। नहीं, खाली मन की दौड़ थी। जरा तसल्ली हो जाती; बस, इसी लिए उनके पास दौड़ा गया था। अब किसी दिन जाऊँगा और कहूँगा, क्यों साहब, कहिए क्या रङ्ग है? दुनिया बुरा कहेगी, कहे; कोई परवा नहीं है। छोटे आदमियों में सब ऐब होते हो हैं। बड़ों में कोई ऐब नहीं होता। देवता होते हैं।'

भगत के लिए जीवन में यह पहला अवसर था कि ऐसा समाचार पाकर वह बैठा रह गया हो। ८० वर्ष के जीवन में ऐसा कभी न हुआ कि साँप की खबर पाकर वह दौड़ न गया हो। माघ-पूस की अँधेरी रात, चैत-बैसाख की धूप और लू, सावन-भादों के चढ़े हुए नदी-नाले, किसी की उसने कभी परवा न की। वह तुरन्त घर से निकल पड़ता था, निःस्वार्थ, निष्काम, लेन-देन का विचार कभी दिल में आया ही नहीं। यह ऐसा काम ही न था, जान का मूल्य कौन दे सकता है? यह एक पुण्य-कार्य था। सैकड़ों निराशों को उसके मन्त्रों ने जीवन-दान दे दिया था; पर आज वह घर से कदम नहीं निकाल सका। यह खबर सुनकर भी सोने जा रहा है।

बुढ़िया ने कहा—तमाखू अँगीठी के पास रक्खी हुई है,
उसके भी आज ढाई पैसे हो गये। देती ही न थी। बुढ़िया
यह कहकर लेटी। बूढ़े ने कुप्पी बुझाई, कुछ देर खड़ा रहा,
फिर बैठ गया। अन्त को लेट गया; पर यह ख़बर उसके
हृदय पर बोझ की भाँति रक्खी हुई थी। उसे मालूम हो र
था, उसकी कोई चीज़ खो गई है, जैसे सारे कपड़े गीले हो ग
हैं, या पैरों में कीचड़ लगा हुआ है, जैसे कोई उसके मन में
बैठा हुआ उसे घर से निकलने के लिए कुरेद रहा है। बुढ़िया
ज़रा देर बाद ख़र्राटे लेने लगी। बूढ़े बातें करते-करते सोते हैं
और ज़रा सा खटका होते ही जागते हैं। तब भगत उठा,
अपनी लकड़ी उठा ली और धीरे से किवाड़ खोले।

बुढ़िया ने पूछा—कहाँ जाते हो?

'कहीं नहीं, देखता था कि कितनी रात है।'

'अभी बहुत रात है, सो जाओ।'

'नींद नहीं आती।'

'नींद काहे को आयेगी? मन तो चड्ढा के घर लग
हुआ है।'

'चड्ढा ने मेरे साथ कौन सी नेकी कर दी है जो वहाँ
जाऊँ। वह आकर पैरों पड़े तो भी न जाऊँ।'

'उठे तो तुम इसी इरादे से हो।'

'नहीं री, ऐसा पागल नहीं हूँ कि जो मुझे काँटे बोये,
उसके लिए फूल बोता फिरूँ।'

बुढ़िया फिर सो गई। भगत ने किवाड़ लगा दिये और फिर आकर बैठा, पर उसके मन की वही दशा थी जो बाजे की आवाज़ कान में पड़ते ही उपदेश सुननेवालों की होती है। आँखें चाहे उपदेशक की ओर हों; पर कान बाजे ही की ओर होते हैं। दिल में भी बाजे की ध्वनि गूँजती रहती है। शर्म के मारे जगह से नहीं उठता। निर्दयी प्रतिघात का भाव भगत के लिए उपदेशक था; पर हृदय उस अभागे युवक की ओर था, जो इस समय मर रहा था, जिसके लिए एक-एक पल का विलम्ब घातक था।

उसने फिर किवाड़ खोले, इतने धीरे से कि बुढ़िया को भी ख़बर न हुई। बाहर निकल आया। उसी वक़्त गाँव का चौकीदार गश्त लगा रहा था। बोला—कैसे उठे भगत, आज तो बड़ी सरदी है। कहीं जा रहे हो क्या ?

भगत ने कहा—नहीं जी, जाऊँगा कहाँ! देखता था, अभी कितनी रात है, भला कै बजे होंगे ?

चौकीदार बोला—एक बजा होगा और क्या। अभी थाने से आ रहा था, तो डाक्टर चड्ढा बाबू के बँगले पर बड़ी भीड़ लगी हुई थी। उनके लड़के का हाल तो तुमने सुना होगा, कीड़े ने छू लिया है। चाहे मर भी गया हो। तुम चले जाओ, तो साइत बच जाय। सुना दस हजार तक देने को तैयार हैं।

भगत—मैं तो न जाऊँ, चाहे वह दस लाख भी दें। मुझे दस हजार या दस लाख लेकर करना क्या है ? कल मर जाऊँगा, फिर कौन भोगनेवाला बैठा हुआ है !

चौकीदार चला गया। भगत ने आगे पैर बढ़ाया। जैसे नशे में आदमी की देह काबू में नहीं रहती, पैर कहीं रखता है, पड़ता कहीं है, कहता कुछ है, ज़बान से निकलता कुछ है, वही हाल इस समय भगत का था। मन में प्रतिकार था, दम्भ था, हिंसा थी; पर कर्म मन के अधीन न था। जिसने कभी तलवार नहीं चलाई, वह इरादा करने पर भी तलवार नहीं चला सकता। उसके हाथ काँपते हैं, उठते ही नहीं!

भगत लाठी खटखट करता लपका चला जाता था। चेतना रोकती थी, उपचेतना ठेलती थी। सेवक स्वामी पर हावी था।

आधी राह निकल जाने के बाद सहसा भगत रुक गया। हिंसा ने क्रिया पर विजय पाई—मैं यों ही इतनी दूर चला आया। इस जाड़े-पाले में मरने की मुझे क्या पड़ी थी? आराम से सोया क्यों नहीं? नींद न आती न सही, दो-चार भजन ही गाता। व्यर्थ इतनी दूर दौड़ा आया। चड्ढा का लड़का रहे या मरे, मेरी बला से, मेरे साथ उन्होंने ऐसा कौन सा सलूक किया था कि मैं उनके लिए मरूँ! दुनिया में हजारों मरते हैं, हजारों जीते हैं। मुझे किसी के मरने-जीने से मतलब!

मगर उपचेतना ने अब एक दूसरा रूप धारण किया, जो हिंसा से बहुत-कुछ मिलता-जुलता था—वह भाड़-फूँक करने नहीं जा रहा है, वह देखेगा कि लोग क्या कर रहे हैं, ज़रा डाक्टर साहब का रोना-पीटना देखेगा, किस तरह सिर पीटते हैं, किस तरह पछाड़ें खाते हैं। वह देखेगा कि बड़े लोग भी

छोटों की भाँति रोते हैं या सबर कर जाते हैं। वे लोग तो विद्वान् होते हैं, सबर कर जाते होंगे। हिंसा-भाव को यों धीरज देता हुआ वह फिर आगे बढ़ा।

इतने में दो आदमी आते दिखाई दिये। दोनों बातें करते चले आ रहे थे—'चड्ढा बाबू का घर उजड़ गया, वही तो एक लड़का था'। भगत के कान में यह आवाज़ पड़ी। उसकी चाल और भी तेज़ हो गई। थकन के मारे पाँव न उठते थे। शिरोभाग इतना बढ़ा जाता था मानों अब मुँह के बल गिर पड़ेगा। इस तरह वह कोई दस मिनट चला होगा कि डाक्टर साहब का बँगला नज़र आया। बिजली की बत्तियाँ जल रही थीं; मगर सन्नाटा छाया हुआ था। रोने-पीटने की आवाज़ भी न आती थी। भगत का कलेजा धक-धक करने लगा। कहीं मुझे बहुत देर तो नहीं हो गई। वह दौड़ने लगा। अपनी उम्र में वह इतना तेज़ कभी न दौड़ा था। बस, यही मालूम होता था मानों उसके पीछे मौत दौड़ी आ रही है।

(४)

दो बज गये थे। मेहमान विदा हो गये थे। रोनेवालों में केवल आकाश के तारे रह गये थे। और सभी रो-रोकर थक गये थे। बड़ी उत्सुकता के साथ लोग रह-रहकर आकाश की ओर देखते थे कि किसी तरह सुबह हो और लाश गङ्गा की गोद में दी जाय।

सहसा भगत ने द्वार पर पहुँचकर आवाज़ दी। डाक्ट
साहब समझे, कोई मरीज़ आया होगा। किसी और दिन
उन्होंने उस आदमी को दुत्कार दिया होता; मगर आज बाहर
निकल आये। देखा, एक बूढ़ा आदमी खड़ा है, कमर झुकी
हुई, पोपला मुँह, भौंहें तक सफ़ेद हो गई थीं। लकड़ी के
सहारे काँप रहा था। बड़ी नम्रता से बोले—क्या है भई,
आज तो हमारे ऊपर ऐसी मुसीबत पड़ गई है कि कुछ कहते
नहीं बनता, फिर कभी आना। इधर एक महीना तक तो
शायद मैं किसी मरीज़ को न देख सकूँगा।

भगत ने कहा—सुन चुका हूँ बाबूजी, इसी लिए आया हूँ।
भैया कहाँ हैं, ज़रा मुझे भी दिखा दीजिए। भगवान् बड़ा
कारसाज है मुरदे को भी जिला सकता है। कौन जाने, अब
भी उसे दया आ जाय!

चड्ढा ने व्यथित स्वर से कहा—चलो देख लो; मगर
तीन-चार घण्टे हो गये। जो कुछ होना था वह हो चुका।
बहुतेरे झाड़ने-फूँकनेवाले देख-देखकर चले गये।

डाक्टर साहब को आशा तो क्या होती, हाँ बूढ़े पर दया
आ गई; अन्दर ले गये। भगत ने लाश को एक मिनट तक
देखा। तब मुसकराकर बोला—अभी कुछ नहीं बिगड़ा है
बाबूजी। वाह! नारायन चाहेंगे तो आध घण्टे में भैया उठ
बैठेंगे। आप नाहक दिल छोटा कर रहे हैं। ज़रा कहारों
से कहिए, पानी तो भरें।

कहारों ने पानी भर-भरकर कैलास को नहलाना शुरू किया। पाइप बन्द हो गया था। कहारों की संख्या अधिक न थी। इसलिए मेहमानों ने अहाते के बाहर के कुएँ से पानी भर-भरकर कहारों को दिया। मृणालिनी कलसा लिये पानी ला रही थी। बूढ़ा भगत खड़ा मुसकरा-मुसकराकर मन्त्र पढ़ रहा था, मानों विजय उसके सामने खड़ी है। जब एक बार मन्त्र समाप्त हो जाता, तब वह एक जड़ी कैलास को सुँघा देता। इस तरह न जाने कितने घड़े कैलास के सिर पर डाले गये और न जाने कितनी बार भगत ने मन्त्र फूँका। आखिर जब उषा ने अपनी लाल-लाल आँखें खोलीं, तो कैलास की लाल-लाल आँखें भी खुल गईं! एक क्षण में उसने अँगड़ाई ली और पीने को पानी माँगा। डाक्टर चड्ढा ने दौड़कर नारायणी को गले लगा लिया, नारायणी दौड़कर भगत के पैरों पर गिर पड़ी और मृणालिनी कैलास के सामने आँखों में आँसू भरे पूछने लगी—अब कैसी तबीयत है?

एक क्षण में चारों तरफ़ ख़बर फैल गई। मित्रगण मुबारकबाद देने आने लगे। डाक्टर साहब बड़े श्रद्धा-भाव से हर एक के सामने भगत का यश गाते फिरते थे। सभी लोग भगत के दर्शनों के लिए उत्सुक हो उठे; मगर अन्दर जाकर देखा, तो भगत का कहीं पता न था। नौकरों ने कहा—अभी तो यहीं बैठे चिलम पी रहे थे। हम लोग तमाखू देने लगे, तो नहीं ली, अपने पास से तमाखू निकालकर भरी।

यहाँ तो भगत की चारों ओर तलाश होने लगी, और भगत लपका हुआ घर चला जा रहा था कि बुढ़िया के उठने से पहले घर पहुँच जाऊँ।

जब मेहमान लोग चले गये, तो डाक्टर साहब ने नारायणी से कहा—बुड्ढा न जाने कहाँ चला गया। एक चिलम तमाखू का भी रवादार न हुआ।

नारायणी—मैंने तो सोचा था, इसे कोई बड़ी रक़म दूँगी।

चड्ढा—रात को तो मैंने नहीं पहचाना; पर ज़रा साफ़ हो जाने पर पहचान गया। एक बार यह एक मरीज़ को लेकर आया था। मुझे अब याद आता है कि मैं खेलने जा रहा था और मरीज़ को देखने से इनकार कर दिया था। आज उस दिन की बात याद करके मुझे जितनी ग्लानि हो रही है, उसे प्रकट नहीं कर सकता। मैं उसे अब खोज निकालूँगा और उसके पैरों पर गिरकर अपना अपराध क्षमा कराऊँगा। वह कुछ लेगा नहीं, यह जानता हूँ। उसका जन्म यश की वर्षा करने ही के लिए हुआ है। उसकी सज्जनता ने मुझे ऐसा आदर्श दिखा दिया है, जो अब से जीवन पर्यन्त मेरे सामने रहेगा।

—प्रेमचन्द

(१०) शिवाजी से छत्रसाल की भेंट

गिरि-कन्दरा में जन्म लेनेवाली भिल्ल-कन्याएँ जिस प्रकार अपना सारा जन्म उसी पहाड़ की टेकड़ियों में घूम-फिरकर ही बिता देती हैं, ऋषि-कन्याओं को जिस प्रकार अपना वन या उपवन छोड़कर और कहीं जाना अच्छा नहीं लगता अथवा विशाल नेत्रोंवाली हरिणी, पतली कमरवाली सिंहनी, मनोहर गतिवाली हंसनी या मधुर स्वरवाली कोकिला जिस प्रकार सहसा जन-समुदाय में नहीं जाती, उसी प्रकार हिमालय, विन्ध्याचल, सह्याद्रि जैसे गम्भीर जनकों के यहाँ जन्म लेनेवाली कन्याएँ भी अरण्यवास में ही अपना अधिकांश जीवन व्यतीत करती हैं। प्रत्येक पर्वत-कन्या यही समझती है कि मैं अरण्यवासिनी हूँ; जङ्गली पुष्पों के सिवा मेरे लिए और कोई अलङ्कार नहीं है और बाल-सूर्य के दिये हुए पीले सालू, रजनीनाथ के दिये हुए सफ़ेद सालू अथवा पति के परोक्ष में रजनी के दिये हुए काले सालू के सिवा मेरे लिए और कोई वस्त्र नहीं है। इसलिए जब अरण्यवासिनी पर्वत-कन्या अपने पति के पास जाने लगती है तब वह जगह-जगह यह देखने के लिए चक्कर लगाती फिरती है कि युवतियाँ किस प्रकार अपना शृङ्गार करती हैं। अपने पिता पर्वत के घर से सुसराल जाते समय प्रत्येक नदी चक्कर लगाकर किसी बस्ती के

पास जाती है, वहाँ की स्त्रियों की अभिरुचि अपने कोमल मन में प्रतिबिम्बित करती है और फिर जङ्गल का रास्ता लेती है। जङ्गल में पहुँचते ही वहाँ की प्राकृतिक शोभा देखकर वह युवतियों का कृत्रिम शृङ्गार भूल जाती है; फिर दो-चार चक्कर लगाकर शृङ्गार-प्रिय युवतियों को देखने के लिए वह किसी दूसरी बस्ती में जाती है और वहाँ से पहले की जानी हुई बातों को भूल जाने के कारण अथवा न जाने क्यों वह फिर जङ्गल का रास्ता लेती है।

बेचारी भीमा बड़ी ही भोली थी। उसका जन्म भोले-भाले शङ्कर के कुल में हुआ था। फिर भला उसके भोलेपन का क्या पूछना? शृङ्गार की ठीक-ठीक शिक्षा पाने के लिए भोली भीमा ने कितने चक्कर लगाये थे, नगर की विलासी स्त्रियों से लेकर गाँव की नीरोग युवतियों तक, लिम्बाजी पटेल की कन्या सुभी से लेकर शाहज़ादी बदरुन्निसा तक उसने कितनी युवतियों के शृङ्गार देखे थे, इसकी गिनती नहीं हो सकती। जङ्गल में थोड़ी दूर जाते ही भोली भीमा सब कुछ भूल जाती थी और फिर शृङ्गार-ज्ञान प्राप्त करने के लिए बस्ती की तरफ़ बढ़ने लगती थी। भीमा में आवश्यकता से अधिक शृङ्गार-लालसा भी थी और ज़रूरत से ज़्यादा भोलापन भी; इसलिए वह सदा गाँवों और शहरों की शृङ्गारप्रिय युवतियों के सहवास में ही मग्न रहती थी।

बाल-रवि का झीना पीला साफ़ू पहने हुए भोली भीमा इठलाती हुई लिम्बाजी पटेल के मकान के पास से जा रही

थी। लिम्बाजी की एकलौती कन्या सुभी उसके पास ही खड़ी हुई उसकी चञ्चल चाल देख रही थी। भोली भीमा उसे अपनी योग्य अध्यापिका समझकर बहुत ही प्रसन्न हुई। पहले उसने सुभी के कोमल चरण छुए जिससे सुभी को बहुत आनन्द हुआ; अब वह बड़ी प्रसन्नता से भीमा की सेवा ग्रहण करने लगी। भीमा भी सुभी से मेल-जोल बढ़ाने लगी। यहाँ तक कि अन्त में भीमा ने सुभी की कमर में हाथ डाल दिया। भीमा ने समझा कि प्रवास में सुभी से मेरा बहुत काम निकलेगा और वह मुझे शृङ्गार की अच्छी तरह शिक्षा देगी, इसलिए उसने अपनी लहरों से सुभी को अपने और समीप कर लिया। अपने आनन्द में भीमा को यह भी न मालूम हुआ कि सुभी घबरा गई है। सुभी को पाकर भीमा को इतना आनन्द हुआ कि उसकी समझ में न आया कि मैं इसे कहाँ रक्खूँ और कहाँ न रक्खूँ; अन्त में उसने सुभी को अपने उदर में डाल लिया।

थोड़ी ही देर में सारे गाँव में पुकार मच गई कि भीमा के भँवर में पड़कर सुभी डूब गई। कोई अपना जाल लेकर नदी की तरफ़ दौड़ा और कोई तूँबे लेकर लपका। सब अपनी-अपनी बहादुरी दिखाने के लिए तरह-तरह के उपाय करने लगे। नाव पर चढ़कर सुभी का पता लगानेवालों ने नाव पर चढ़ने से पहले सुभी को उसके अल्हड़पन के कारण मनमाना कोसा और जिसके जी में जो आया उसने सुभी को वही कह

डाला। बेचारा पटेल अपने दालान में अलग एक कोने में बैठा हुआ रो रहा था। उसे घेरकर बहुत से लोग खड़े हो गये और लगे फटकारने कि तुम लड़की का ज़रा भी ध्यान नहीं रखते और उसे मनमाना घूमने देते हो। डूबी हुई लड़की को किसी तरह निकालने का प्रयत्न तो कोई न करता था, पर अपनी-अपनी बहादुरी और समझदारी का बखान सब लोग ख़ूब करते थे। उसी भीड़ में खड़ा हुआ एक तेजस्वी तरुण इन लोगों का यह तमाशा देख रहा था। जब उसने देखा कि लड़की को निकालने का साहस किसी में नहीं है तो उससे न रहा गया और वह आगे बढ़कर कहने लगा,—

"इस तरह की हुज्जत-तकरार का यह समय नहीं है। जैसे हो, चटपट लड़की को निकालने का प्रयत्न करना चाहिए; नहीं तो थोड़ी देर में उसके प्राण निकल जायँगे। तुम लोगों से न कुछ हो सकता हो तो मुझे वह जगह बतलाओ जहाँ वह डूबी है; मैं उसे तुरन्त निकाल लाता हूँ।"

यह कहकर वह तेजस्वी वीर पटेल के दालान से बाहर निकलने लगा। इतने में लिम्बाजी और दूसरे बहुत से लोगों ने बड़ी श्रद्धा और भक्ति से प्रचण्ड घोष किया—"श्री शिवाजी महाराज की जय।" जो युवक सुभी को निकालने के लिए जा रहा था वह बीच में ही रुक गया। उसने चकित होकर देखा कि एक बलिष्ठ मराठा एक हाथ में तलवार लिये और दूसरे हाथ से सुभी को सहारा दिये हुए मुस्कराता हुआ आ

रहा है। सिर से पैर तक उसके सब कपड़े भीगे हुए थे जिससे उसका गठीला और कसा हुआ शरीर अच्छी तरह दिखाई पड़ता था। उसके बड़े-बड़े और चमकीले नेत्रों से भूत-दया की अविरत वर्षा हो रही थी, दाढ़ी के कारण उसके प्रसन्न वदन की गम्भीरता और भी बढ़ गई थी और उसका प्रशस्त ललाट उसकी अतुल बुद्धिमत्ता की साक्षी दे रहा था। उस युवक ने समझ लिया कि इतने कष्ट सहकर इतनी दूर का मेरा प्रवास करना सफल हो गया, मुझे साक्षात् परमेश्वर के दर्शन हो गये। इससे उसे हर्ष-रोमाञ्च हो आया और वह झपटकर आगे बढ़ा। अर्जुन ने भी जिस भक्ति-भाव से परमात्मा श्रीकृष्ण के चरण न छुए होंगे, राजा श्रेणिक ने भी जिस भक्ति-भाव से महावीर तीर्थंकर का वन्दन न किया होगा, सम्राट् अशोक ने भी जिस भक्ति-भाव से बोधि-वृक्ष के नीचे भगवान् गौतम बुद्ध की चरण-सेवा न की होगी, उस विमल भक्ति-भाव से वह युवक शिवाजी के चरणों पर पड़ गया।

अपरिचित वेष, अपरिचित भाषा और अपरिचित मुद्रा से तरुण को इतने प्रेम और भक्ति से अपने पैरों पर गिरते देख शिवाजी को बहुत आश्चर्य हुआ और उनके हृदय में एक अपूर्व भाव उत्पन्न हो आया। उन्होंने गद्गद स्वर से कहा— "अपरिचित युवक! ... भारत-माता के पुत्र हैं। जगदम्बा ... सामने उसके सब

बालक समान हैं। तब भला मेरे चरणों पर
आवश्यकता है? उठो, और मुझसे गले मिले

इतना कहकर शिवाजी दोनों हाथों से
युवक को ऊपर उठाने लगे। वह भी अपनी आ
पोंछता हुआ और सूर्य के समान तेजस्वी औ
समान शीतल, अग्नि के समान तेज और ज
निर्मल, लोहे के समान कठोर और पुष्प के स
शिवाजी के रूप की ओर देखता हुआ नम्रता-पूर्वक

"महात्मन्! आपके ही दर्शनों की इच्छा से
खण्ड से चलकर यहाँ तक आया हूँ। इतने दिनो
का फल मुझे आज मिला है। मैं महेवा के राजा च
का पुत्र छत्रसाल हूँ, मेरे देश पर मुसलमानों का
हो गया है और वहाँ की प्रजा उनके उपद्रवों और अ
से बहुत दुखी हो रही है। मैं उस देश को स्वतन्त्र
और इस सम्बन्ध में आपको अपना गुरु मानकर मन्त्र
चाहता हूँ। आपके सदुपदेश को वेद-वाक्य के समान
समझकर मैं उसी के अनुसार कार्य्य करूँगा। आप गु
और मैं शिष्य हूँ। गुरु की चरण-सेवा करना शिष्य
परम कर्त्तव्य है, इसी लिए मैंने आपके चरण छुए। अनु
करके मुझे अपना शिष्य बनाइए और मेरी सेवा स्वीक
कीजिए। हो सके तो मुझे कुछ समय तक अपनी से
में रहने दीजिए और मुझे इतना अवकाश दीजिए कि

दैनिक कार्यों और प्रयत्नों आदि को कुछ समय तक देखकर मैं शिक्षा ग्रहण करूँ। इस प्रकार जब आप मुझे अपने शिष्य होने का पात्र समझ लें तब मुझे गुरुमन्त्र देकर अपना शिष्य बनावें और प्रसन्न होकर आशीर्वाद दें कि मेरे हाथ से बुन्देलखण्ड स्वतन्त्र हो जाय।"

शिवाजी की आँखों से प्रेमाश्रु बहने लगे। सुभी के कन्धे पर से हाथ उठाकर उन्होंने वह हाथ छत्रसाल के कन्धे पर रख दिया और प्रेमपूर्वक कहा—

"मातृभूमि की इतने मनोभाव से सेवा करनेवाले भाग्यशाली युवक! महाराष्ट्र देश में मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। मुझे एक ऐसा मित्र पाकर अवर्णनीय आनन्द हुआ है जिसके उद्देश्य और कार्य्य मेरे उद्देश्यों और कार्य्यों के समान ही हैं। तुम थोड़ी देर यहीं ठहर जाओ; मैं इस लड़की को इसके पिता के सुपुर्द करके यहाँ से चलता हूँ। उस समय मैं शान्त होकर एकान्त में तुमसे बातचीत करूँगा।"

इतना कहकर शिवाजी आगे बढ़कर लिम्बाजी पटेल के पास पहुँचे और सुभी को उसके सुपुर्द करके बोले—"लो, यह तुम्हारी लड़की आ गई। यह बड़ी अल्हड़ है। अहमदनगर की चाँदबीबी की तरह तलवार चलाने में यह आगापीछा देखनेवाली नहीं है। दिल्ली के बादशाह के दो सरदार दिलेर ख़ाँ और जयसिंह अपने साथ प्रबल सेना लेकर महाराष्ट्र देश पर आक्रमण करने के लिए आ रहे हैं। उस

समय तुम्हें कम से कम एक सौ जवानों को अपने साथ लेकर भगवे झण्डे के नीचे आना चाहिए।"

पटेल—"महाराज! मेरे गाँव में तलवार चलाने योग्य जितने पुरुष हैं वे सब आज्ञानुसार सेवा करने के लिए तैयार हैं। हम सब लोगों को दृढ़ विश्वास है कि महाराज के मुख से निकलनेवाला प्रत्येक शब्द जगन्माता भवानी के मुख से ही निकला रहता है। मनुष्य की आज्ञा भले ही टाली जा सकती है, पर भगवती की आज्ञा टालने का सामर्थ्य किसमें है? महाराज! कृपा कर गीले वस्त्र उतार डालिए और ये सूखे वस्त्र पहन लीजिए।"

शिवाजी ने बिना कुछ कहे-सुने तुरन्त अपने गीले कपड़े उतार दिये और पटेल के दिये हुए कपड़े पहन लिये। इस पर लिम्बाजी पटेल ने बहुत ही प्रसन्न होकर कहा—

"लोग जो यह कहा करते हैं कि महाराज निर्धनों के धन, अनाथों के नाथ, दुष्टों के संहारक और गो-ब्राह्मण-प्रतिपालक हैं सो यह बिलकुल ठीक है। महाराज के पवित्र चरण मेरी इस कुटिया में आये, इसे मैं अपना बहुत भारी सौभाग्य समझता हूँ। क्या मुझे इतना सौभाग्य प्राप्त हो सकता है कि महाराज का आतिथ्य करूँ और मेरे यहाँ जो कुछ मोटा-झोटा अन्न हो उसे मैं महाराज की सेवा में उपस्थित करूँ?"

शिवाजी ने अभिमानपूर्वक कहा—

"मैं तुम्हारा हूँ और सारे महाराष्ट्र देश का हूँ। भला, मैं तुम लोगों की बात कब अस्वीकृत कर सकता हूँ? मुझे

कुछ आवश्यक और महत्त्व-पूर्ण बातें करने के लिए इस बुन्देलखण्ड के युवक के साथ बाहर जाना है। प्राय: दोपहर के अन्दर ही मैं लौट आऊँगा और तुम्हारे इच्छानुसार तुम्हारे यहाँ भोजन करूँगा।"

सब लोगों का अभिनन्दन स्वीकृत करते हुए जब शिवाजी वहाँ से चलने लगे तब पटेल ने कहा—

"महाराज! वह बुन्देला युवक कल सन्ध्या को ही यहाँ आया था। अपने सुन्दर मधुर भाषण और पवित्र आचरण के कारण वह हम लोगों को बहुत ही प्रिय हो गया है। शिवाजी महाराज देखने में कैसे हैं, वे कैसे चलते हैं, कैसे बोलते हैं, सब लोग उनके दर्शन कर सकते हैं या नहीं, उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए पहले क्या किया था, उनके लड़ने का ढङ्ग कैसा है, वे किन शस्त्रों का व्यवहार करते हैं, आदि-आदि अनेक प्रकार के प्रश्न उसने आते ही हम लोगों से किये थे। महाराज के दर्शनों के लिए वह इतना आतुर हो रहा था कि सारी रात उसकी आँख ही नहीं लगी। मैं उसे लेकर महाराज की सेवा मे उपस्थित होने को ही था; लेकिन सुभी के डूब जाने के कारण मुझे रुक जाना पड़ा। महाराज की कृपा से सुभी के प्राण बच गये और उस बुन्देले युवक को अकल्पित रीति से महाराज के दर्शन मिल गये।"

इसके बाद फिर शिवाजी महाराज का जयजयकार हुआ। जयजयकार की प्रतिध्वनि होने से पहले ही वे अपने साथ

छत्रसाल को लेकर वहाँ से चल दिये थे। एक मनचले ने कह दिया कि उस बुन्देले युवक के साथ महाराज देखते-देखते जहाँ के तहाँ लुप्त हो गये। गाँव के सभी लोग बड़ी गम्भीर मुद्रा से यह कहते हुए अपने-अपने घर चले गये कि भवानी की कृपा और सहायता से महाराज जो चाहें सो कर सकते हैं!

महाराज शिवाजी अपने साथ छत्रसाल को लेकर धीरे-धीरे चलते हुए और स्वतन्त्रता-सम्बन्धी बातें करते-करते भीमा नदी तक पहुँच गये और उसके किनारे-किनारे आगे बढ़ते हुए बहुत दूर तक चलने के उपरान्त एक ऊँची टेकड़ी के पास पहुँचे। दूर से उस स्थान को देखकर इस बात की कल्पना भी न हो सकती थी कि वहाँ मनुष्यों के रहने की जगह हो सकती है। लेकिन ज्योंही शिवाजी महाराज ने एक बड़ी शिला के पास पहुँचकर आवाज़ दी 'एसाजी', त्योंही 'जी महाराज' सुनाई पड़ा। वह शिला मानों टूट गई और भीतर जाने के योग्य मार्ग निकल आया। इस पर छत्रसाल को बहुत ही विस्मय हुआ; लेकिन वे एक शब्द भी न बोले और चुपचाप शिवाजी के पीछे-पीछे उस गुफा में घुस गये। थोड़ी ही दूर चलने पर उन्हें एक सभामण्डप दिखाई पड़ा। वहाँ हवा भी खूब आ रही थी और प्रकाश की भी कमी नहीं थी। पृथ्वी के गर्भ में छिपी हुई इतनी बड़ी इमारत देखकर छत्रसाल के आश्चर्य की सीमा न रही।

छत्रसाल के मन की स्थिति समझने में सारे महाराष्ट्र को अपने शब्द पर चलानेवाले चतुर शिवाजी को देर क्यों लगती? उन्होंने तुरन्त छत्रसाल से कहा—

"छत्रसाल! यह भव्य सभामण्डप देखकर कदाचित् तुम्हें बहुत आश्चर्य हो रहा है। लेकिन जब तुम्हें यह मालूम होगा कि इस प्रकार के गुप्त स्थानों और गुप्त मार्गों की स्वतन्त्रता के कामों में कितनी आवश्यकता पड़ती है तब तुम्हारा आश्चर्य और भी बढ़ जायगा। महाराष्ट्र देश के सन्तों और महात्माओं ने यद्यपि यहाँ के निवासियों को समता का तत्त्व अच्छी तरह समझा दिया था तो भी स्वतन्त्रता के वास्ते लड़ने के लिए बहुत ही कम लोग तैयार हुए थे। शूर, चतुर और राजनीतिज्ञ मराठे बहमनी राज्य की सेवा में लगे हुए थे। इसलिए सबसे पहले जो लोग भगवे झण्डे के नीचे एकत्र हुए वे राजकीय विषयों से प्रायः बिलकुल ही अनभिज्ञ और अपरिचित थे। महाराज रामदास स्वामी ने कर्म-मार्ग का उपदेश देकर बहुत से युवकों को भगवे झण्डे के नीचे एकत्र किया था। सारे महाराष्ट्र में पताकाओं के बदले तलवारें दिखाई पड़ने लगीं और हरिनाम के बदले 'हर-हर महादेव' सुनाई पड़ने लगा। लेकिन हम लोगों ने समझ लिया कि अनुभवी यवन-सेना के सामने हम लोग न ठहर सकेंगे, इसलिए हम लोग समय पाकर छापे मारने लगे। मेरे शूर मराठे यद्यपि गिनती में बहुत ही कम थे पर तो भी बीजापुर की प्रबल सेना पर

समय पर छापे मारकर वे सदा विजयी होते थे। ऐसे आक्रमिक छापों के समय लुकने-छिपने के लिए ऐसे गुप्त स्थानों से बड़ा काम निकलता है। गुप्त स्थानों में जगह-जगह पर रास्ते भी बने हुए हैं, इसलिए आज जिस स्थान पर मराठे अन्तर्धान होंगे उनका किसी को पता भी न लगेगा और वे कल ही वहाँ से दस-बीस कोस दूर कहीं जा निकलेंगे। बहुधा हम लोग दो-चार छापे डालकर शत्रु को बेकाम कर देते हैं और बहुत सी रसद, गोली-बारूद और लूट का माल लेकर थोड़ी ही देर में इसी प्रकार के किसी गुप्त स्थान में अन्तर्धान हो जाते हैं। इसी लिए हम लोगों की तो कोई हानि नहीं होती पर शत्रु बड़ी ही विपत्ति में पड़ जाते हैं। छत्रसाल! अब तो तुम ऐसे गुप्त स्थानों का उपयोग समझ गये न? राजस्थान के राजपूत और बुन्देलखण्ड के बुन्देले बड़े वीर और लड़ाके होते हैं; पर वे बलाबल और समय-असमय का विचार नहीं करते और न दाँव-पेंच ही जानते हैं। वे सीधे चलकर शत्रु पर आक्रमण कर बैठते हैं और बहुधा अपने ही नाश का कारण होते हैं। लेकिन जब तक छापे न मारे जायँ तब तक प्रबल शत्रु कभी दबाया नहीं जा सकता।"

छत्रसाल एकाग्र-चित्त से शिवाजी की सब बातें सुनते रहे। उनका हाथ पकड़कर शिवाजी ने कहा—

"चलो, हम लोग वहाँ चलकर बैठें। मैंने पहले से ही निश्चित कर लिया था कि इसी स्थान पर हमारी-तुम्हारी

बातें होंगी। मैं लिम्बाजी पटेल के यहाँ बिना कारण नहीं गया था। मैं समझता था कि वहाँ तुमसे भेंट होगी।"

शिवाजी की ओर भक्ति और आश्चर्य से देखते हुए छत्रसाल ने पूछा—"महाराज! आपको यह कैसे मालूम हुआ कि मैं आपके दर्शनों के लिए यहाँ आ रहा हूँ? विशेषतः आपको यह कैसे मालूम हो गया कि आपको ढूँढ़ता हुआ मैं इसी गाँव में पहुँचूँगा? यह आपने किस प्रकार निश्चित किया कि इसी स्थान पर आप मेरे साथ बातें करेंगे?"

छत्रसाल के प्रश्न का उत्तर बिना दिये शिवाजी ने आवाज़ दी—

"एसाजी! ज़रा इधर आना।"

तुरन्त एसाजी आकर शिवाजी के सामने खड़े हो गये। उन्हें देखकर शिवाजी ने छत्रसाल से पूछा—

"छत्रसाल! तुमने इन्हें पहले कभी कहीं देखा है?"

छत्रसाल ने सिर से पैर तक एसाजी को अच्छी तरह देखकर कहा—

"जी नहीं महाराज! मैं इन्हें आज पहले ही पहल देख रहा हूँ।"

इस पर शिवाजी ने हँसते हुए कहा—

"जब तक राजधानी में दिल्ली की सेना के मोरचे नहीं लग जाते तब तक राजस्थान के राजाओं को शत्रु की सेना का हाल-चाल ही नहीं मालूम होता। जब तक शत्रु की सेना का राजप्रासाद में प्रवेश न हो तब तक बुन्देलखण्ड के राजाओं

को यह भी नहीं मालूम होता कि शत्रु ने हमारा सारा देश करके अपने अधीन कर लिया है। इसका मुख्य कारण यही कि शत्रु का समाचार पाने के लिए बुन्देले और राजपूत के उपाय नहीं करते। या तो ये लोग शत्रु की छावनी में गु रूप से घुसकर उनका पूरा-पूरा पता लगाना ही नहीं जान और या ये इसे अनुचित और कायरता का काम समझते हैं लेकिन यह बड़ी भारी त्रुटि या भूल है। छत्रसाल! मेरे अने गुप्त दूतों में से एसाजी एक ऐसे ही गुप्त दूत हैं। मैंने इन देवगढ़ का समाचार लाने के लिए भेजा था। देवगढ़ जीत कर जब विजयी सेना वहाँ से दिल्ली को रवाना हुई तब ये भी लौटने लगे। जब तुम देवगढ़ से चले तब ये भी भेस बदलकर तुम्हारे साथ हो लिये। रास्ते में भी उन्होंने कई बार अपना भेस बदला था। समय-समय पर अनेक रूपों में मेरा पता भी इन्हीं ने तुम्हें बतलाया था।"

अब छत्रसाल की आँखें खुलीं। उन्हें ध्यान आ गया कि देवगढ़ से चलते समय एसाजी से मिलते-जुलते एक मनुष्य से उनकी बातचीत हुई थी। अब वे समझ गये कि वे एसाजी ही थे। अब उनकी समझ में आ गया कि जहाँ-जहाँ मैं ठहरता था वहाँ-वहाँ क्यों मुझे सब प्रकार का सुभीता होता था। शिवाजी की ओर कृतज्ञतापूर्वक देखते हुए उन्होंने कहा—

"महाराज, आपकी चतुराई और राजनीतिज्ञता का बखान नहीं हो सकता। अब मैंने अच्छी तरह से समझ लिया

कि कल सन्ध्या को एसाजी ने ही मुझे लाकर लिम्बाजी पटेल के यहाँ ठहराया था। मैं बहुत ही गुप्त रूप से यात्रा कर रहा था; लेकिन इतना होने पर भी गुप्त दूत के द्वारा महाराज ने मेरा पता लगा ही लिया और उसी की सहायता से आपने मुझे अपने चरणों के समीप बुलवाकर मुझ पर बहुत ही उपकार किया।"

शिवाजी ने गम्भीरतापूर्वक कहा—

"छत्रसाल! मैंने केवल अपना कर्त्तव्य किया है। जिस समय मैंने सुना था कि अनेक कष्ट भोगता हुआ प्रवासी, दारुण यातना सहता हुआ, दुर्लंघ्य विन्ध्याचल लाँघता हुआ, अपार नर्मदा पार करता हुआ, बुन्देलखण्ड सरीखे दूर देश से केवल परोपकार के लिए एक युवक मेरे पास आ रहा है, उस समय यदि मैं चुपचाप बैठा रहता और प्रवास में तुम्हारे सुभीते का कोई प्रबन्ध न करता तो ईश्वर के सामने मैं बड़ा भारी अपराधी बनता। उचित तो यह था कि मैं स्वयं आगे बढ़कर तुमसे मिलता। लेकिन जिस समय तुम देवगढ़ से चलने लगे थे उस समय मुझे तुम्हारा उद्देश्य ही मालूम न था; और जिस समय मुझे तुम्हारा उद्देश्य मालूम हुआ उस समय तुम बहुत जल्दी यात्रा कर रहे थे; इसलिए विवश होकर तुमसे भेंट करने के लिए मुझे यही स्थान नियत करना पड़ा।"

इसके बाद शिवाजी थोड़ी देर चुप रहे। कमलों का रस लेनेवाला भ्रमर जिस प्रकार तल्लीन होकर कमल की ओर

देखता है, छत्रसाल भी उसी प्रकार तल्लीन होकर शिवाजी की ओर देख रहे थे। वे सोचते थे कि कब शिवाजी के मुख-कमल से उपदेशामृत निकलने लगे और कब मैं उसका आनन्द लूँ। कुछ देर तक विचार करने के उपरान्त शिवाजी ने कहा—

"छत्रसाल! सुनते हैं, बुन्देलखण्ड में वहाँ से यवनों को निकाल देने के लिए आज तक अनेक प्रयत्न हुए हैं। लेकिन सदा परस्पर के विरोध और द्वेष आदि के कारण ही आज तक उसमें कभी सफलता नहीं हुई। क्या यह बात ठीक है? बुन्देलखण्ड की भीतरी अवस्था का तुम्हें बहुत कुछ ज्ञान होगा, इसी लिए मैं यह बात तुमसे पूछता हूँ। यह बात ठीक है न कि बुन्देलखण्ड के सभी राजे और सरदार वहाँ से यवनों को निकाल देने के लिए मिलकर प्रयत्न नहीं करते?"

छत्रसाल ने बड़े दुःख से कहा—

"महाराज! बुन्देलखण्ड को स्वतन्त्र करने के प्रयत्न में आज तक बराबर लोगों को विफलता ही होती रही; और इसी लिए मुझे अब महाराज की सेवा में उपस्थित होना पड़ा है। मेरे पिताजी को इस बात का बड़ा भरोसा था कि बुन्देलखण्ड पर से यवनों का अधिकार अवश्य उठ जायगा। उनमें बहुत अधिक साहस, निश्चल धैर्य और अद्वितीय क्षात्र-तेज था। लेकिन इसी परस्पर की कलह के कारण उनका राज्य गया, उनके प्राण गये और अन्त में प्राणों से भी अधिक प्रिय उदात्त उद्देश्य नष्ट हो गया। उनकी आँखें उस समय खुलीं जिस समय उन्हें अंतकाल

की शाश्वत निद्रा आई। जिस समय उनकी सारी सेना नष्ट हो गई, उनके राज्य पर यवनों का अधिकार हो गया और वे अपनी ऐहिक आशाएँ छोड़कर परलोक जाने के लिए तैयार हुए उस समय उन्हें अपनी विफलता का कारण मालूम हुआ। उसी समय उन्होंने मुझे आज्ञा दी कि मैं यहाँ आकर आपसे 'गुरु-मन्त्र' लूँ। उनकी उसी आज्ञा का पालन करने, उनके उदात्त उद्देश्य को पूरा करने और बुन्देलखण्ड को मुसलमानों के विकट चंगुल से निकालने के लिए ही इस समय मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। मुझे आप कृपाकर योग्य मन्त्र और उपदेश दीजिए। स्वतन्त्रता-प्राप्ति का सबसे सहज उपाय, सबसे निकट का मार्ग आप मुझे बतलाइए और ऐसा आशीर्वाद दीजिए जिसमें स्वतन्त्रता के वास्ते लड़ने के लिए मुझमें दैवी शक्ति आ जाय।"

शिवाजी ने स्नेहपूर्वक कहा—

"भूत-दया का उदात्त चित्र सामने रखकर जो मनुष्य अपने देश के उद्धार के लिए हृदय से प्रयत्न करता है उसका मार्ग बन्धु-प्रेम के उज्ज्वल तेज से प्रकाशित होता है। नीति, न्याय और समता के देवता—मङ्गल-गान गाते हुए—उसके साथ-साथ चलते हैं। बन्धु-प्रेम की दिव्य ज्योति हाथ में लेकर आत्मोन्नति उसको रास्ता दिखलाती चलती है। शालीनता, मधुरता और सत्य-प्रतिज्ञा उस पर चँवर डुलाती हैं। दक्षता और तत्परता उसका मार्ग निष्कण्टक और सुगम करती हैं। प्रसन्नता और सरलता उसके

मन में उत्साह उत्पन्न करती है। सम्पन्नता, नीरोगता और निर्व्यसनता उसकी कमाई लिये चलती है। इस प्रकार स्वतंत्रता देवी का सारा परिवार उसकी सहायता करता है। और नहीं तो मेरे सरीखे पामर से क्या हो सकता है? छत्रसाल! मैं भी तुम्हारी ही तरह स्वतंत्रता देवी का एक भक्त हूँ। इससे अधिक मैं तुम्हें और क्या बतला सकता हूँ?"

छत्रसाल ने गम्भीरतापूर्वक कहा—"महाराज! आप ऐसा न कहें। आपमें बहुत सामर्थ्य है, आपका अधिका बहुत अधिक है। समस्त भारत में स्वतंत्रता का ठीक-ठी और पूरा ज्ञान पहले-पहल आपको ही हुआ है। धर्म भँवर में घूमनेवाले महाराष्ट्रों को सबसे पहले आपने ही स्वदे प्रेम की ओर लगाया। भारतवर्ष में स्वतंत्रता का बीजारोप सबसे पहले आपने ही किया है। भारतवर्ष के चैतन्यही होते जानेवाले पौरुष पर अमृत की वर्षा सबसे पहले आ ही की। भारत की भावी स्वतंत्रता के सबसे पहले गुरु ही हैं। मेरे सरीखे जो अल्पज्ञ भक्त स्वतंत्रता देवी के मं तक पहुँचना चाहते हों, उनका सबसे पहला कर्त्तव्य आ उपदेश के अनुसार चलना है।"

—रामचन्द्र

(११) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

संवत् १८१४ की लड़ाई के उपरान्त अँगरेज़ों के पैर इस देश में दृढ़ता से जमने लगे, परन्तु अवस्था अभी तक डाँवाँडोल थी। संवत् १८६० में मुग़ल-साम्राज्य का अन्त हो गया और मुग़ल-सम्राट् अँगरेज़ों से पेनशन पाकर अपना जीवन बिताने लगा। अब इस विस्तृत राज्य को भली भाँति शासित करने का उद्योग किया जाने लगा। संवत् १९१४ में सिपाही-विद्रोह हुआ, जिससे ब्रिटिश शासन की जड़ हिल गई, पर अँगरेज़ों के सौभाग्य से उन्हें थोड़े ही दिनों में इस विपत्ति से छुटकारा मिल गया और उन्होंने इस विद्रोह का दमन करके अपने शासन की नींव दृढ़ता से जमा ली। इसके उपरान्त ब्रिटिश जाति और भारतवर्ष के सम्बन्ध की घनिष्ठता दिन पर दिन बढ़ने लगी। एक व्यापारी संस्था ने वणिजव्यापार के लिए इस देश में आकर २५० वर्षों में अपना अटल राज्य स्थापित कर लिया।

इस दैवी घटना के कारण इँगलैंड की अपेक्षाकृत नवीन सभ्यता का भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता से सम्बन्ध स्थापित हुआ और दोनों में संघर्षण होने लगा। विजय के उत्साह में मग्न होकर अँगरेज़ अपनी जाति तथा देश के उपकार में दत्त-चित्त थे और अत्यन्त कुशलतापूर्वक अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्रयत्नवान् हो रहे थे। पिछले एक सहस्र वर्षों से

भारतवर्ष विदेशियों के अधीन होकर तथा उनकी सेवा-वृत्ति करके अपना जीवन बिता रहा था। एक में उत्साह, जाति-प्रेम और देशाभिमान के भाव भरे हुए थे, दूसरा सङ्कटापन्न होकर अपने दिन कठिनाई से काट रहा था। उसे अपने जीवन तक के लाले पड़ रहे थे, स्वार्थपरता ने उस पर अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया था। ऐसी अवस्था में दो भिन्न-भिन्न सभ्यताओं का सङ्घर्षण सम शक्ति से नहीं चल सकता था।

किसी लेखक का कहना है कि यूरोप के लोग पहले व्यापार का झण्डा लेकर आगे बढ़ते हैं। उसके पीछे धर्म का झण्डा खड़ा किया जाता है और अन्त में सभ्यता का अजेय दुर्ग खड़ा होकर विजितों को अपना अस्तित्व भुलाकर उसी की महत्ता स्वीकृत करने के लिए बाध्य करता है। भारतवर्ष में भी क्रमशः ये ही घटनाएँ हुईं। जब अँगरेज़ों के पैर यहाँ जम गये तब उन्हें अपने शासन को सुचारु रूप से चलाने की चिन्ता हुई। उन्होंने भारतवर्ष को भारतीय सिपाहियों की सहायता से जीता था। अब शासन भी भारतीयों की सहायता से चलने लगा, पर शासन को ठीक-ठीक चलाने के लिए शासक और शासित में परस्पर व्यवहार की आवश्यकता होती है। अतएव यह आवश्यक हुआ कि शासक शासित की भाषा का ज्ञान प्राप्त करें और शासित शासक की भाषा का। इस पारस्परिक व्यवहार-विनिमय के लिए ऐसे विद्यालयों के स्थापन की आवश्यकता हुई जहाँ अँगरेज़ों को भार-

सीय भाषाएँ सिखाई जायँ। साथ ही ऐसा आयोजन भी अनिवार्य था, अनिवार्य ही नहीं वरन् परम आवश्यक था, जिससे भारतीयों को अँगरेज़ी भाषा का ज्ञान प्राप्त कराया जाय। इस अन्योन्याश्रित व्यापार की आवश्यकता में मात्रा का भेद रहा। शासकों के लिए भारतीय भाषाओं का व्यावहारिक ज्ञान उतना आवश्यक नहीं था जितना शासितों के लिए, क्योंकि शासितों को अपनी भाषा का ज्ञान प्राप्त कराके वे उनके द्वारा सुगमता से अपना काम चला सकते थे। इस स्थिति में पहले तो फ़ोर्टविलियम कालेज में ऐसा प्रबन्ध किया गया कि इँगलैंड से आये हुए नवयुवक शासकों को भारतीय भाषाओं की शिक्षा दी जाय, पर पीछे से इसको वादृश आवश्यकता न समझी गई और यह कालेज बन्द कर दिया गया। पहले चाहे जिस भाव से प्रेरित होकर यह कालेज खोला गया और फिर बन्द कर दिया गया हो, पर इसने हिन्दी-साहित्य का रूप ही बदल दिया। अँगरेज़ों का यह नियम है कि वे पहले निश्चय कर लेते हैं कि कौन-कौन सी बातें हमारे लिए आवश्यक और उपयोगी हैं और तब वे उनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नवान् हो जाते हैं। हमारी हिन्दी भाषा का साहित्य अब तक प्रायः पद्यमय था, गद्य तो उसमें नाममात्र को था। पद्य के द्वारा पारस्परिक व्यवहार कभी चल नहीं सकता। यद्यपि सब देशों के साहित्य में पहले पद्य का ही आविर्भाव होता है, पर साथ ही परस्पर भाव-विनिमय के

लिए गद्य का भी प्रयोग होता है। हिन्दी में भी साहित्य का आरम्भ पद्य-रचना से हुआ और इसके लिए व्रजभाषा का ही विशेष प्रयोग हुआ है, पर भारतवर्ष एक बहुत बड़ा देश है और प्राचीन समय में देश के भिन्न-भिन्न भागों के रहनेवालों के आने-जाने तथा मिलने-जुलने के साधन सुगम न होने के कारण भाव-विनिमय के लिए अनेक प्रान्तिक भाषाओं तथा उपभाषाओं का खण्ड-राज्य था। इस अवस्था में जब अँगरेज़ों को शासकों और शासितों के बीच परस्पर व्यवहार स्थापित करने की आवश्यकता हुई, तब वे इस काम के लिए भिन्न-भिन्न उप-भाषाओं तथा बोलियों में से किसी एक को नहीं चुन सकते थे। इस काम के लिए उन्होंने मुख्य-मुख्य प्रान्तीय भाषाओं को चुना जिनमें हिन्दी भी एक थी। पर हिन्दी में गद्य-ग्रन्थ तो थे ही नहीं, इसलिए वे इन ग्रन्थों के निर्माण की ओर दत्तचित्त हुए। इस प्रकार फ़ोर्टविलियम कालेज में लल्लूजी-लाल, सदल मिश्र आदि पण्डितों को यह काम सौंपा गया और उन्होंने सफलतापूर्वक इसे सम्पन्न किया। इन घटनाओं के वशवर्ती होकर हिन्दी गद्य की नींव दृढ़तापूर्वक रक्खी गई।

अब इस बात का विचार आरम्भ हुआ कि भारतवासियों को किस प्रकार की शिक्षा दी जाय और वह भी किस भाषा के द्वारा। बहुत वाद-विवाद तथा सोच-विचार के अनन्तर अँगरेज़ी भाषा द्वारा पाश्चात्य विद्याओं की शिक्षा देना निश्चित हुआ और उसके अनुसार भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न

स्थानों में इसका प्रबन्ध होने लगा। इस कार्य को इँगलैंड-वासी कितना आवश्यक और उपयोगी समझते थे, इसका अनुमान एक दूसरी बात से कर लेना चाहिए कि संवत् १९१४ में, जब कि सिपाही-विद्रोह भयानक रूप धारण किये हुए था, पहला विश्वविद्यालय स्थापित किया गया। तब से लेकर आज तक शिक्षा का कार्य बराबर चला आ रहा है। पाश्चात्य शास्त्रों की शिक्षा देने और अँगरेज़ी भाषा का ज्ञान प्राप्त कराने में बड़ा अन्तर है। एक से ज्ञान की वृद्धि हो सकती है, पर दूसरे से एक विदेशीय जाति के परस्पर व्यवहार की भाषा से परिचय होता है। भाषा द्वारा जो विजय प्राप्त होती है, वह चिरस्थायिनी और अधिक व्यापक होती है। अपनी निज की भाषा, अपने प्राचीन साहित्य तथा अपने प्राचीन इतिहास के ज्ञान से शून्य रहकर जब मनुष्य किसी विदेशीय भाषा, विदेशीय साहित्य और विदेशीय इतिहास का ज्ञान प्राप्त करता है और उनकी महत्ता पर मुग्ध हो जाता है, तब वह धीरे-धीरे अपने आपको भूलने लगता है और अन्त में विदेशीय रङ्ग में ऐसा रँग जाता है कि उसे अपने देश की सब बातों से विराग उत्पन्न होने लगता है; उसे अपनी भाषा गँवारू और व्यञ्जकशक्ति-रहित जान पड़ने लगती है, अपना साहित्य हीन और अपूर्ण देख पड़ने लगता है और अपने इतिहास में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष के झगड़ों को छोड़कर और कुछ मिलता ही नहीं। सारांश यह कि वह अपने आपको एक अशिक्षित, असभ्य

कि देश का यह भाग अपने पूर्व गौरव को समझ और अपने प्राचीन आचार-विचार से अभिज्ञ होकर क्रिस्तान होने से बच गया। वैसे ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी भाषा में नई सञ्जीवनी शक्ति का सञ्चार कर उसे इस योग्य बना दिया कि वह जातीय विकास की सहायक होकर भारतवासियों की मातृभाषा के उपयुक्त गौरव को प्राप्त करने में समर्थ हुई। पहले कहा जा चुका है कि सभ्यता की विजय राजनीतिक विजय से अधिक महत्त्वपूर्ण और स्थायी होती है। संयोग से जब राजनीतिक विजय के साथ सभ्यता की विजय की सहयोगिता और सहकारिता हो जाती है तब वह राजनीतिक विजय चिर-स्थायिनी होकर किसी विजित देश को सदा-सर्वदा के लिए अपना बना लेती है। एक दूरदर्शी लेखक का कथन है कि यदि किसी देश को निरन्तर दासत्व की शृङ्खला में बाँधे रखना हो, तो पहले उसका इतिहास नष्ट कर देना चाहिए। इसका सबसे सुगम उपाय उस देश के वासियों की अपनी मातृभाषा से अरुचि उत्पन्न करके विजेताओं की भाषा के प्रति विशेष अनुराग और गाढ़ी ममता उत्पन्न कर देना है। भारतवर्ष में यही उद्योग किया गया था, पर 'मेरे मन कछु और है करता के मन और'। ईश्वर ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को इस लोक में भेजकर इस प्रवाह को उलटा बहा दिया। मातृभाषा हिन्दी के प्रति विराग के स्थान पर अनुराग उत्पन्न हो गया। पाश्चात्य शिक्षा-प्राप्त लोगों की रुचि बदल गई और

उनमें अपने साहित्य-भाण्डार को सुन्दर-सुन्दर रत्नों से भरने की उत्कट कामना उत्पन्न हो गई।

"भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से हिन्दी-साहित्य का नया युग आरम्भ होता है। इन्होंने जिस अवस्था में हिन्दी को पाया वह विलक्षण थी। पद्य में जायसी, सूर, तुलसी आदि के आख्यान-काव्यों का समय एक प्रकार से बीत चुका था। केशव के चलाये हुए नायिकाभेद, रस, अलङ्कार आदि को लक्ष्य करती हुई स्फुट कविताओं के छींटे उड़ रहे थे। गद्य प्रेमसागर, सिंहासन-बत्तीसी और बैताल-पचीसी से ही सन्तोष किये बैठा था।

"यद्यपि देश में नये-नये भावों का सञ्चार हो गया था, पर हिन्दी भाषा उनसे दूर थी। लोगों की अभिरुचि बदल चली थी, पर हमारे साहित्य पर उसका प्रभाव नहीं पड़ा था। शिक्षित लोगों के विचारों और व्यापारों ने दूसरा मार्ग तो पकड़ लिया था, पर उनका साहित्य उसी पुराने मार्ग पर था। ये लोग समय के साथ स्वयं तो कुछ आगे बढ़ आये थे, पर जल्दी में अपने साहित्य को साथ न ला सके। उसका साथ छूट गया और वह उनके कार्यक्षेत्र से अलग पड़ गया। प्रायः सभी सभ्य जातियों का साहित्य विचारों और व्यापारों से लगा हुआ चलता है। यह नहीं कि उनकी चिन्ताओं और कार्यों का प्रवाह तो एक ओर हो और उनके साहित्य का प्रवाह दूसरी ओर। फिर यह विचित्र घटना यहाँ कैसे हुई?

बात यह है कि जिन लोगों के हृदय में नई शिक्षा के प्रभाव से नये विचार उत्पन्न हो चले थे, जो अपनी आँखों से देश-काल का परिवर्तन देख रहे थे, उनमें अधिकांश तो ऐसे थे जिनका कई कारणों से हिन्दी-साहित्य से लगाव छूट सा गया था, और शेष ऐसे थे जिन्हें हिन्दी-साहित्य का मण्डल बहुत ही बद्ध और परिमित दिखाई देता था, जिन्हें विचारों को सन्निविष्ट करने के लिए स्थान ही नहीं सूझता था। उस समय एक ऐसे साहसी और प्रतिभा-सम्पन्न पुरुष की आवश्यकता थी जो कौशल से इन बढ़ते हुए विचारों का मेल देश के परम्परागत साहित्य से करा देता। बाबू हरिश्चन्द्र का प्रादुर्भाव ठीक ऐसे ही समय में हुआ और वे यह कार्य करने में समर्थ हुए।"

—श्यामसुन्दरदास

---

(१२) चन्द्रगुप्त और चाणक्य

स्थान--तक्षशिला के गुरुकुल का मठ

[चाणक्य और सिंहरण]

चाणक्य—सौम्य, अब अवधि पूरी हो चुकी। कुलपति ने मुझे गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की आज्ञा दे दी है। केवल तुम्हीं लोगों को अर्थशास्त्र पढ़ाने के लिए ठहरा था, क्योंकि इस वर्ष के भावी स्नातकों को अर्थशास्त्र का पाठ पढ़ाकर मुझ अकिञ्चन को गुरु-दक्षिणा चुका देनी थी।

सिंहरण—आर्य्य, मालवों को अर्थशास्त्र की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी अस्त्रशास्त्र की। इसी लिए मैं पाठ में पिछड़ा रहा, क्षमा-प्रार्थी हूँ।

चाणक्य—अच्छा, अब तुम मालव जाकर क्या करोगे?

सिंह०—अभी तो मैं मालव नहीं जाता। मुझे तो तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखने की आज्ञा मिली है।

चाणक्य—मुझे प्रसन्नता होती है कि तुम्हारा अर्थशास्त्र पढ़ना सफल होगा। क्या तुम जानते हो कि यवनों के दूत यहाँ क्यों आये हैं।

सिंह०—मैं उसे जानने की चेष्टा कर रहा हूँ। आर्य्यावर्त्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की

लेखनी और मसी प्रस्तुत हो रही हैं। उत्तरापथ के खण्ड-राज्य द्वेष से जर्जर हैं। शीघ्र भयानक विस्फोट होगा।

[सहसा आम्भीक और अलका का प्रवेश]

आम्भीक—कैसा विस्फोट? युवक, तुम कौन हो?

सिंह०—एक मालव।

आम्भीक—नहीं, विशेष परिचय की आवश्यकता है।

सिंह०—तक्षशिला-गुरुकुल का एक छात्र!

आम्भीक—देखता हूँ कि तुम दुर्विनीत भी हो!

सिंह०—कदापि नहीं राजकुमार! विनम्रता के साथ निर्भीक होना मालवों का वंशानुगत चरित्र है, और मुझे तक्षशिला की शिक्षा का भी गर्व है।

आम्भीक—परन्तु किसी विस्फोट की बातें अभी कर रहे थे। और चाणक्य, क्या तुम्हारा भी इसमें कुछ हाथ है?

[चाणक्य चुप रहता है]

आम्भीक—(सक्रोध) बोलो ब्राह्मण, मेरे राज्य में रहकर मेरे अन्न से पलकर मेरे ही विरुद्ध कुचक्रों का सृजन!

चाणक्य—राजकुमार, ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है; स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है। यह तुम्हारा मिथ्या गर्व है। ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया-स्तूपों को ठुकरा देता है। प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है।

आम्भीक—चुप रहो अलका, यह ऐसी बात नहीं है जो योंही उड़ा दी जाय। इसमें कुछ रहस्य है!

[चाणक्य चुपचाप मुस्कराता है]

सिंह०—हाँ, हाँ, रहस्य है! यवन-आक्रमणकारियों के पुष्कल स्वर्ण से पुलकित होकर आर्य्यावर्त्त की सुख-रजनी की शान्ति-निद्रा में उत्तरापथ की अर्गला धीरे से खोल देने का रहस्य है। क्यों राजकुमार! सम्भवतः तक्षशिलाधीश वाह्लीक तक इसी रहस्य का उद्घाटन करने गये थे?

आम्भीक—(पैर पटककर) ओह असह्य! युवक, तुम बन्दी हो।

सिंह०—कदापि नहीं; मालव कदापि बन्दी नहीं हो सकता।

[आम्भीक तलवार खींचता है]

चन्द्रगुप्त—(सहसा प्रवेश करके) ठीक है, प्रत्येक निरपराध आर्य्य स्वतन्त्र है, उसे कोई बन्दी नहीं बना सकता। यह क्या राजकुमार! खड्ग को कोश में स्थान नहीं है क्या?

सिंह०—(व्यङ्ग से) वह [illegible] गया है!

आम्भीक—सावधान [illegible] हो! और

इस [illegible] —मृत्यु-

[illegible]

छात्र तुम्हारे

[illegible] हो—बस

(आम्भीक तलवार खींचता है, चन्द्रगुप्त अपनी तलवार पर उसे रोकता है; आम्भीक की तलवार छूट जाती है। वह निस्सहाय होकर चन्द्रगुप्त के आक्रमण की प्रत्याशा करता है। बीच में अलका आ जाती है।)

सिंह०—वीर चन्द्रगुप्त, बस। जाओ राजकुमार, यहाँ कोई कुचक्र नहीं है; अपने कुचक्रों से अपनी रक्षा स्वयं करो।

चाणक्य—राजकुमारी, मैं गुरुकुल का अधिकारी हूँ। मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम क्रोधाभिभूत कुमार को लिवा जाओ। गुरुकुल में शस्त्रों का प्रयोग शिक्षा के लिए होता है, द्वंद्वयुद्ध के लिए नहीं। विश्वास रखना, इस दुर्व्यवहार का समाचार महाराज के कानों तक न पहुँचेगा।

अलका—ऐसा ही हो। चलो भाई!

[क्षुब्ध आम्भीक उसके साथ जाता है]

चाणक्य—(चन्द्रगुप्त से) तुम्हारा पाठ समाप्त हो चुका है और आज का यह काण्ड असाधारण है, मेरी सम्मति है कि तुम शीघ्र तक्षशिला का परित्याग कर दो। और सिंहरण, तुम भी।

चन्द्र०—आर्य्य, हम मागध हैं और यह मालव। अच्छा होता कि यहीं गुरुकुल में हम लोग शस्त्र की परीक्षा भी देते।

चाणक्य—क्या यही मेरी शिक्षा है? बालकों की सी चपलता दिखलाने का यह स्थल नहीं है। तुम लोगों को समय पर शस्त्र का प्रयोग करना पड़ेगा। परन्तु अकारण रक्तपात नीति-विरुद्ध है।

करने का सबको अधिकार नहीं; तुमने अनधिकार चेष्टा की थी। देखती हूँ कि प्रायः मनुष्य, दूसरों को अपने मार्ग पर चलाने के लिए, रुक जाता है और अपना चलना बन्द कर देता है।

सिंह०—परन्तु भद्रे, जीवन-काल में भिन्न-भिन्न मार्गों की परीक्षा करते हुए जो ठहरता हुआ चलता है वह दूसरों को लाभ ही पहुँचाता है। यह कष्टदायक तो है परन्तु निष्फल नहीं।

अलका—किन्तु मनुष्य को अपने जीवन और सुख का भी ध्यान रखना चाहिए।

सिंह०—मानव कब दानव से भी दुर्दान्त, पशु से भी बर्बर, और पत्थर से भी कठोर, करुणा के लिए निरवकाश हृदयवाला हो जायगा, नहीं जाना जा सकता। अतीत सुखों के लिए शोच क्यों, अनागत भविष्य के लिए भय क्यों, और वर्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूँगा; फिर चिन्ता किस बात की ?

अलका—मालव, तुम्हारे देश के लिए तुम्हारा जीवन मूल्य है, और वही यहाँ आपत्ति में है।

सिंह०—राजकुमारी, इस अनुकम्पा के लिए कृतज्ञ हुआ। परन्तु मेरा देश मालव ही नहीं गान्धार भी है। यही क्या, समग्र आर्यावर्त्त है, इसलिए मैं......

अलका—(आश्चर्य से) क्या कहते हो ?

सिंह०—गान्धार आर्यावर्त्त से भिन्न नहीं है। इसी लिए उसके पतन को मैं अपना अपमान समझता हूँ।

चन्द्र०—गुरुदेव ! विश्वास रखिए, यह सब कुछ नहीं होने पावेगा। यह चन्द्रगुप्त आपके चरणों की शपथ-पूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि यवन यहाँ कुछ न कर सकेंगे।

चाणक्य—साधु ! वत्स, साधु ! प्रतिज्ञा अचल हो। परन्तु इसके लिए पहले तुम मगध जाकर साधन-सम्पन्न बनो। यहाँ समय बिताने का प्रयोजन नहीं। मैं भी पञ्चनद-नरेश से मिलता हुआ मगध आऊँगा क्योंकि मुझे जीविका की खोज है। और सिंहरण, तुम भी सावधान !

सिंह०—आर्य, आपका आशीर्वाद ही मेरा रक्षक है।

[चन्द्रगुप्त और चाणक्य का प्रस्थान]

सिंह०—एक अग्निमय गन्धक का स्रोत आर्यावर्त के लौह-अस्त्रागार में घुसकर विस्फोट करेगा। चञ्चला रण-लक्ष्मी इन्द्र-धनुष सी विजयमाला हाथ में लिये उस नील-लोहित प्रलयजलद में विचरण करेगी और वीर-हृदय मयूर से नाचेंगे। तब आओ देवि ! स्वागत !!

[अलका का प्रवेश]

अलका—मालव-वीर, अभी तुमने तक्षशिला का परित्याग नहीं किया ?

सिंह०—क्यों देवि ! क्या मैं यहाँ रहने के अनुपयुक्त हूँ ?

अलका—नहीं, मैं तुम्हारी सुख-शान्ति के लिए चिन्तित हूँ। भाई ने यद्यपि तुम्हारा अपराध किया है पर वह अकारण न था; जिसका जो मार्ग है, वह चलेगा। उस पर विचार

करने का सबको अधिकार नहीं; तुमने अनधिकार चेष्टा की थी। देखती हूँ कि प्रायः मनुष्य, दूसरों को अपने मार्ग पर चलाने के लिए, रुक जाता है और अपना चलना बन्द कर देता है।

सिंह०—परन्तु भद्रे, जीवन-काल में भिन्न-भिन्न मार्गों की परीक्षा करते हुए जो ठहरता हुआ चलता है वह दूसरों को लाभ ही पहुँचाता है। यह कष्टदायक तो है परन्तु निष्फल नहीं।

अलका—किन्तु मनुष्य को अपने जीवन और सुख का भी ध्यान रखना चाहिए।

सिंह०—मानव कब दानव से भी दुर्दान्त, पशु से भी बर्बर, और पत्थर से भी कठोर, करुणा के लिए निरवकाश हृदयवाला हो जायगा, नहीं जाना जा सकता। अतीत सुखों के लिए शोच क्यों, अनागत भविष्य के लिए भय क्यों, और वर्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूँगा; फिर चिन्ता किस बात की?

अलका—मालव, तुम्हारे देश के लिए तुम्हारा जीवन मूल्य है, और वहीं यहाँ आपत्ति में है।

सिंह०—राजकुमारी, इस अनुकम्पा के लिए कृतज्ञ हुआ। परन्तु मेरा देश मालव ही नहीं गान्धार भी है। यही क्या, समग्र आर्य्यावर्त्त है, इसलिए मैं......

अलका—(आश्चर्य से) क्या कहते हो?

सिंह०—गान्धार आर्यावर्त्त से भिन्न नहीं है। इसी लिए उसके पतन को मैं अपना अपमान समझता हूँ।

अलका—(निःश्वास लेकर) इसका मैं अनुभव
रही हूँ। परन्तु जिस देश में ऐसे वीर युवक हों, उसका
असम्भव है। मालवी-वीर, तुम्हारे मनोबल में स्वतन्त्र
और तुम्हारी दृढ़ भुजाओं में आर्यावर्त्त के रक्षण की शक्ति
तुम्हें सुरक्षित रहना ही चाहिए। मैं भी आर्यावर्त्त की बा
हूँ—उसी नाते तुमसे अनुरोध करती हूँ कि तुम शीघ्र गा
छोड़ दो। मैं आम्भीक को शक्ति भर पतन से रोकूँगी, प
उसके न मानने पर तुम्हारी आवश्यकता होगी। जाओ व

सिंह०—अच्छा राजकुमारी, तुम्हारे स्नेहानुरोध से
जाने के लिए बाध्य हो रहा हूँ। शीघ्र ही चला जा
देवि! किन्तु यदि किसी प्रकार सिन्धु की प्रखर धारा
यवन-वाहिनी न पार कर सकती......!

अलका—मैं चेष्टा करूँगी वीर, तुम्हारा नाम?

सिंह०—मालवगण के राष्ट्रपति का पुत्र सिंहरण।

अलका—अच्छा फिर कभी। कुमार, सावधान!

[दोनों एक दूसरे को देखते हुए प्रस्थान करते हैं]

—जयशङ्कर 'प्रसा

---

(१३) अर्जुन पहरेदार

पूस का महीना था। सूर्य अस्त होने में बहुत देर थी। देवरा से पाव मील पूर्व पलोथर की पहाड़ी की जड़ में बहनेवाले नाले के दोनों किनारों के पेड़ों की झुरमुटों की नीलिमा पर रवि-रश्मियाँ नाच सी रही थीं। बेतवा के पश्चिमी किनारे पर से ऐसा भान होता था, मानो वनदेवी के पद-चारण के लिए पलोथर ने लम्बा, सुनहला पाँवड़ा बिछा दिया हो।

दो सवार नाले में से निकले और चमूसी की देवरा की चौकी की ओर आये। एक की आयु सत्रह या अठारह वर्ष से अधिक न होगी। प्रशस्त ललाट कुछ लम्बाई लिये, गोल चेहरा, आँखें कुछ बड़ी और बादाम के आकार की हल्की काली, नाक सीधी और होंठ लाल, ठोड़ी आधार में एक हल्के से गढ़ेवाली और ज़रा सी आगे को झुकी हुई और गर्दन सुराहीदार। केश पीछे गर्दन तक लम्बे और बिलकुल काले और उन पर कहीं-कहीं रेत के कण। भौंहें पतली, लम्बी और खिंची हुईं और पलक दीर्घ। सीना चौड़ा और कमर बहुत पतली, बाहु लम्बे और हाथ की उँगली पतली। मूँगिया रङ्ग के कपड़े पहने हुए, छोटी सी ढाल और तरकस पीठ पर, कमर में तलवार और कन्धे पर कमान। भाल पर लगा रोरी का तिलक किसी समय हाथ पड़ जाने से पुछ गया था, और माथे

पर तिरछी लकीर के आकार में बन गया था। इस प्रकार यक रेखा ने मुख के हल्के गेहुँए रङ्ग को और भी तेजोमय बना दिया था। गले में सोने की माला थी। दूसरा सवार तेईस या चौबीस वर्ष का युवक था। पहले सवार का बाल्यावस्था ने अभी बिलकुल साथ नहीं छोड़ा था और दूसरा युवावस्था में प्रवेश कर चुका था। रङ्ग साँवला, लम्बे काले बाल चेहरे की श्यामलता को और भी बढ़ा रहे थे। मस्तक छोटा, आँखें बड़ी, नाक सीधी परन्तु छोटी, भौंहें मोटी और गुच्छेदार, ठोड़ी चौड़ी और आगे को अधिक झुकी हुई, बायें कान में मणि-जटित बाली, सीना बहुत चौड़ा, हाथ छोटे परन्तु बहुत पुष्ट, सारी देह जैसे साँचे में ढाली गई हो। आँख बहुत काली, सजग और जल्दी-जल्दी चलनेवाली, गले में पड़ी मोतियों की माला चेहरे के साँवलेपन को दीप्ति दे रही थी। चेहरा गोल, होंठ कुछ मोटे। इसके माथे पर भी रोरी का तिलक था, परन्तु वह पुछा नहीं था। यदि इस सवार के तिलक की लकीर लम्बी-तिरछी बन गई होती, तो आकृति कुछ अधिक भयानक हो जाती।

दोनों सवार चमूसी की चौकी पर पहुँचे। पाँच सौ सैनिकों में से केवल दस-पाँच चौकी पर थे। बाकी अपने किसी निजी काम से इधर-उधर गये हुए थे। दो सैनिकों ने झटपट आगे आकर दोनों सवारों को प्रणाम किया, और उनके घोड़े थाम लिये। साँवले सवार ने कुछ प्रखर कण्ठ से कहा—"और सब लोग क्या सो रहे हैं?"

एक सैनिक ने उत्तर दिया—"नहीं अन्नदाता, खेती से लौटकर आये और नदी में नहाने चले गये।" जिसको 'अन्नदाता' कहकर सम्बोधन किया गया था, वह फिर घोड़े पर सवार होकर बोला—"सामन्त चमूसी से कह देना कि मैं कल लौटकर आऊँगा, तब तक आशा है कि उनके सैनिक नहा-धोकर नदी से लौट आवेंगे। यदि देवरा चौकी के पहरे का यही हाल रहा, तो कुण्डार की कुशल नहीं।" चौकी के पास ही मार्ग में एक छोटी सी फुलवाड़ी थी। फलों में कुछ पेड़ अनार और अमरूद के थे, और फूलों में गेंदा लगा हुआ तथा दो बड़े पेड़ लाल कनैर के। फूल बहुत बड़े-बड़े थे और रङ्ग उनका बहुत आकर्षक था।

कुमार ने घोड़े पर से उतरकर दो फूल कनैर में से तोड़कर एक अपने साफे में खोंस लिया और एक अपने साथी को दे दिया।

उसने कहा—"फूल बहुत सुन्दर है, परन्तु निर्गन्ध है।"

साँवले सवार ने मुसकिराकर उत्तर दिया—"इस पर भी देवताओं पर चढ़ता है। मनुष्य इसको बहुत कम लगाते हैं।"

"और लगायें तो?"—उसने पूछा।

"युद्ध का चिह्न है, लगाने [illegible] किसी युद्ध के लिए विवश होना पड़ेगा।"

साथी ने कहा [illegible] समय अपने

और [illegible] की चट्टानों पर

घोड़ों को एँड़ लगाकर दोनों सवार नदी की ओर चल दिये, और सैनिक अवाक् खड़ा रह गया।

दोनों सवार घाट पर पहुँचकर उतर पड़े और उन्होंने अपने-अपने घोड़ों की रासें हाथ में ले लीं। दूसरा सवार, जो अभी तक चुपचाप चला आया था, मुसकिराकर बोला—"कुँअर, अब सीधे चन्देले के पास चलोगे या बरौल की सूँड़ा में भाग्य की परीक्षा करोगे?"

"कुँवर"-सम्बोधित युवक ने कुछ अधीर होकर कहा—"बरौल की सूँड़ा के किशुन काका को अब शिकार का शौ[illegible] नहीं रहा। वह बूढ़ा बाघ उसी जङ्गल में हम लोगों को दबा डालेगा, चन्देले के पास तक न जाने देगा। वह शत्रुओं [illegible] पहरा नहीं लगाता है, हमारे ऊपर पहरा लगाता है। [illegible] धैजापारे की तलहटी में चलो और तलहटी-तलहटी भरत[illegible] के जङ्गल में हिरन का शिकार करके चन्देले के पास। [illegible] राजा ने दो ही दिन की तो छुट्टी दी है।"

दोनों सवार अपने-अपने घोड़ों को थामे हुए नदी के किनारे पहुँचे और वहाँ से दक्षिण की ओर तलहटी-तल[illegible] थोड़ा दूर जाकर किनारे पर चढ़ गये। वहाँ से भरतपुरा की गढ़ी मील-डेढ़ मील की दूरी पर होगी। बीच में जङ्गल का एक टुकड़ा पड़ता था। पश्चिम की ओर गेहूँ-चने के हरे-भरे [illegible] मैदान थे। सूर्य के अस्त होने में थोड़ा विलम्ब था। किसा[illegible] हरे-हरे खेतों पर लहरा रही थी।

दोनों सवारों ने एक काला हिरन देखा। कुछ दूर था। घोड़े बढ़ाये। हिरन ने चौकड़ी भरी। घोड़े बहुत दौड़े। एक जगह हिरन ठहरा। तीर छूटे। परंतु निशाना खाली गया। हिरन एक भरके में ऐसा लोप हुआ कि फिर पता न लगा। उधर सूर्यास्त हो गया।

प्रकाश थोड़ा सा था। दोनों को भरतपुरा गढ़ी की याद आई।

श्यामकाय सवार ने कहा—"गढ़ी यहाँ से कोस भर होगी। चन्देला देवरा के पड़िहार के समान काहिल नहीं है। सन्ध्या होते ही गढ़ी का फाटक बन्द कर लेता है। तिस पर भी सोहनपाल वहाँ सकुटुम्ब आया हुआ है, इसलिए वह और भी अपनी अभेद्यता का परिचय देगा। भाई पाँड़े, इधर का मार्ग तुम बतलाओ, तुमको इस ओर अपने पिता के साथ आने का प्राय: अवसर मिलता है।"

पाँड़े ने कहा—"हाँ, हमारे पिता लेन-देन के सम्बन्ध में इस तरफ़ के गाँवों में कभी-कभी आते हैं, परन्तु शिकार खेलने के लिए नहीं।"

दूसरा सवार—"जी हाँ, जब तक उनका लेन-देन देहातियों के साथ होता है तब तक आप लेन-देन करते रहते हैं जङ्गल के जानवरों के साथ।"

पाँड़े नामक युवक की ठोड़ी कुछ कठोर हुई और होंठ कोई कड़ी बात कहने के लिए कुछ हिले परन्तु उसने अपने

दी शामिल कर पूर्व दिशा की ओर देखकर कहा—"गत है, परन्तु कुण्डार का क़िला यहाँ से दिखता है, और सीध में भरतपुरा की गढ़ी भी दीखती है। थोड़ा , मैं मार्ग दिखलाता हूँ।" एँड़ मारकर पाँड़े आगे हुआ। अपनी दिल्लगी का वार चूका हुआ देखकर कुढ़ा। यदि कुढ़कर कोई उत्तर दिया होता, तो बात और बढ़ती; ड़वी बात कहनेवाले "कुँअर"-सम्बोधित युवक को कम यह सन्तोष हो जाता कि लोहे पर लोहा बजाने शब्द तो हुआ।

धेरा होते-होते दोनों सवार भरतपुरा गढ़ी के सामने जा फाटक बन्द थे, परन्तु गढ़ी के भीतर से चहल-पहल ाज़ सुनाई पड़ रही थी। थोड़ी ही दूर पर बसे हुए धुओं की गुंज उठ-उठकर धीरे-धीरे आकाश में पतली ती थी। सूर्य का प्रकाश न था और न थी तारों ी। किरणों की चकाचौंध और तारों की झिल- के बीच का समय निबिड़ अन्धकार का होता है। ा टटोलने पर भी कठिनता से कुछ सूझता है। इस वा की धार, भरतपुरा के सूँड़ा की घनी वृक्षावली की ा और सामने गढ़ी का बन्द द्वार, बस यही कुछ- ता था।

ने फाटक के बुर्ज की खिड़की में से कर्कश स्वर में ो आय रे, बोल नईं तो तीर छूटो।"

श्यामकाय सवार ने दुगने कर्कश स्वर में कहा—"फाटक खोल जल्दी, दिन-भर के थके हुए हैं।"

खिड़की में से फिर उसी ने कहा—"मैं हौ अर्जुन, जानत कै नईं। कै महाभारत में अर्जुन हते, कै अब मैं हौं। 'फाटक खोल जल्दी'! जैसे इनके बापई को दओ खात होऊँ।"

पाँड़े को बड़े ज़ोर की हँसी आई। यदि इस समय प्रकाश होता, तो देख लिया जाता कि पाँड़े के बहुत सुन्दर दाँत मोतियों को लजाते थे और होंठों के कोनों पर ऐसा वक्र अर्द्धवृत्त बनाते थे कि जैसे और कहीं देखने में नहीं आते। श्यामकाय सवार ने उनको और किसी समय देखा था। पाँड़े की पञ्चम स्वर की हँसी में कुछ छूत सी थी। श्यामकाय सवार को भी हँसी आ गई। उसको दबाकर उसने फिर अपने कण्ठ को कर्कश करने की चेष्टा की। कण्ठ कुछ कर्कश हुआ। पाँड़े अब भी थोड़ा-थोड़ा हँस रहा था। परन्तु उसकी हँसी का स्वर उतना ही सुनाई पड़ता था, जितना वीणा की झङ्कार का अन्तिम विस्तार। ... साथी ने सुन लिया। इसलिए कण्ठ की ... में टूट गई। कण्ठ की गति को ह्रास की ... चेष्टा करने पर भी अर्द्ध ... अमुक्त हँसी ने ... गला

बुर्ज़ से किसी ने उसी स्वर में कहा—"लो बेटा
सँभर कें बोलियो। नईं तो जो मोसें कुबच कै रहे, अ
ठौरें तीर हम ठूँस देयँ। भला ब्यार लौं साजै रैहैं।"

पाँड़े ने कहा—"कुँअर, यह चन्देले का चेला है।
नहीं खोलेगा। इसको नाम बतलाइए।"

बुर्ज़वाले ने यह बात सुन ली। बोला—"मोहो, एक अं
पिन्न-पिन्न बोले। नाँव बताओ, नाँव! नाँव बड़े दर्सन छोटे।
डिल्ली में राय पिथौरा आये हैं जू खोलत हौ मैं फाटक, सो
माकें लड़ुआ खा लियो। लो, अब टर जाओ। गाँव में
ढूँढ़ लो डेरा काऊके इते। भोर आइयो, तब मिलिहैं सावंत।
भैरों को कौल जो अब तुमने लप्प-लुप्प करी, तो फोरइ दें
अर्जुन को थान खाकें कोऊ राम को नाँव नईं लै पाउत।"

पाँड़े ने कहा—"यह हैं महाराज हुरमतसिंह के कुमा
नागदेव और हम हैं पाँड़ेजी के लड़के अभिदत्त। अरे
बेईमान, अब तो खोलेगा फाटक। ठण्डी हवा के मारे दम
निकला जाता है।"

बुर्ज़ पर से ढीठ अर्जुन बोला—"सावन्त से पूँछकें अबै
हाल आओ मे।"

नागदेव ने कहा—"यह चन्देला भी पक्का शुमर है। कैसे
कैसे धाण्डालों को पहरे पर खड़ा छोड़ा है कि नाम बता देने
पर भी फाटक नहीं खोलता है। जी चाहता है कि सारे की
इस झोपड़ी में आग लगा दूँ..."

कुछ धीरे से कही। पाँड़े ने और भी धीरे से उत्तर दिया—"न तो यह झोंपड़ा है, और न इसमें आप इच्छा होते हुए भी आग लगा सकते हैं। यदि बात सच्ची है, तो सोहनपाल इसी गढ़ी में किसी के साथ ठहरा हुआ है। इसके सिवा और शिष्टाचार में अपना कुछ बिगड़ेगा नहीं।"

इस उपदेश की किसी और अवसर पर शायद दिल्लगी उड़ाई जाती, परन्तु इस मौक़े पर यह सलाह नाग की समझ में आ गई।

थोड़ी देर में फाटक खुल गया। आठ-दस आदमी मशाल लिये हुए निकल आये। आगे-आगे हथियारों से सजा हुआ ३०-३५ वर्ष का एक रोबीला सैनिक था। मशालों के लहराते हुए तीव्र प्रकाश में इस व्यक्ति की लम्बी बाँकी नाक, भरा हुआ साफ़ चेहरा, पतले और दृढ़ होंठ, तनी हुई मूछें, बहुत बड़ी और दृढ़ आँखें, नाटा क़द, मोटी गर्दन और बलिष्ठ देह स्पष्ट और तुरन्त दिखलाई पड़ गई। ठीक पीछे कभी मशालों के प्रकाश में और कभी अपने सरदार की छाया में छिपता सा चला आता हुआ बुर्ज़ेवाला वह व्यक्ति था, जिसने अपना नाम बड़े दम्भ के साथ अर्जुन बतलाया था। इसका रङ्ग पका श्याम, शरीर वट-वृक्ष की तरह लम्बा-चौड़ा, आँखें काफ़ी बड़ी और माथा खुला हुआ। नाक लम्बी और सिरे पर कुछ चिपटी। दाहने गाल में बहुत परिश्रम और बहुत हँसने के अभ्यास की एक लकीर। आयु इसकी चालीस-बयालीस वर्ष के लगभग होगी। मूछ में

एक-आध सफ़ेद बाल था, परन्तु देह भर से बल टपका पड़ता था। इसकी आँखें इस समय नीचे को थीं, विनम्र और विनीत भाव को अपनी प्रकृति के प्रतिकूल धारण करने की चेष्टा कर रहा था। मोटे-मोटे होठों पर भयभीत होने की मुद्रा लगा रक्खी थी, परन्तु उनकी तहों में हँसी का तूफ़ान उठ-उठकर रह जाता था। मालूम होता था कि वह अपनी प्रश्नोत्तरी का दीर्घ प्रायश्चित्त करने की तैयारी कर रहा था। परन्तु उसका चालीस-पचालीस वर्ष का अभ्यास उसे विवश किये हुए था।

इस दल के सरदार ने फाटक से निकलते ही कहा—"अन्नदाता को हरी चन्देले का जुहार स्वीकार हो।"

नागदेव ने मुसकिराकर उत्तर दिया—"रावजी, प्रणाम करता हूँ—पहरा तो आपका बड़ा कड़ा है।"

हरी—"अन्नदाता, आजकल का समय कुछ कठिन है। सूचना मिली है कि कालपी में तुर्क और पठान इकट्ठे होकर जुझौति पर धावा करने का मन कर रहे हैं।"

नागदेव—"यह तो कोई नई सूचना नहीं है। हम लोगों को कुण्डार में यह भी मालूम हुआ है कि दिल्लीशाह बलबन की दो सेनाओं को लखनौती के मुसलमान सूबेदार तुग़रिल ने विध्वंस कर डाला है; और वह बाग़ी अपना राज्य बङ्गाल में अलग स्थापित करने की चेष्टा में है।"

हरी चन्देले ने पूर्ववत् दृढ़ता के साथ कहना आरम्भ किया—"नया समाचार यह है कि कालपी का सूबेदार इस

समय इस दुविधा में है कि दिल्लीशाह की फ़ौज का साथ दूँ या स्वयं कालपी का मालिक बन बैठूँ, क्योंकि सुना गया है कि बलबन स्वयं सेना लेकर लखनौती की ओर जा रहा है। कालपी दो घोड़ों पर सवार होने जा रही है। वह चाहती है कि उधर बलबन को यह विश्वास रहे कि विश्वासघात नहीं किया जा रहा है और इधर यह महत्त्वाकांक्षा है कि यदि बलबन भी तुग़रिल से लड़ाई में हार गया, तो दिल्ली चाहे जिसके पास जाय, कालपी तो अपने हाथ में बनी रहे। इसलिए कालपी का जमाव मुझे खुटके में डाले हुए है। परन्तु अन्नदाता को यहाँ ठण्ड लग रही होगी। भीतर चलें। भीतर और भी मिहमान हैं, जिनका समाचार मैंने यथासमय पहुँचा दिया था।"

पीछे अग्निदत्त खड़ा हुआ था। उसको देखकर चन्देले ने हाथ जोड़कर कहा—"पाँड़ेजी, प्रणाम।"

अग्निदत्त ने सम्राटों-जैसी मुसकिराहट के साथ आशीर्वाद कहा और नागदेव को कटुता के जाल में गिरने से बचाने और चन्देले के अतिथि-सत्कार को अक्षुण्ण बनाये रखने की इच्छा से प्रेरित होकर कहा—"आपका जैसा पहरेदार है रावजी, उससे भरतपुरा को किसी आक्रमण की चिन्ता न रहनी चाहिए।"

फाटक बन्द करके समय या असमय पाकर अर्जुन नागदेव के सामने अपने हाथों के बल साष्टाङ्ग गिरने का उपाय

(१४) पञ्च महापातक

शास्त्रों में अनेक तरह के पापों का वर्णन है। झूठ बोलना, हिंसा करना, चोरी करना इत्यादि अनेक पाप हैं। किन्तु पापों का एक और भी प्रकार है, जिसका नामोच्चारण और निषेध होना ज़रूरी है। ये पाप इन सामान्य पापों से कम भयङ्कर नहीं हैं। भयभीत दशा में रहना, अन्याय सहना, पड़ोसी पर होते हुए अन्याय को चुपचाप देखते रहना, आलस्यमय जीवन व्यतीत करना और अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न न करना—ये भी पाँच महापाप हैं। इनमें अपनी आत्मा ही के प्रति द्रोह है। संसार में जहाँ-जहाँ अन्याय होता है, वहाँ-वहाँ अत्याचार करनेवाला तो ज़रूर ही पापी होता है, पर अत्याचार को सह लेनेवाला भी कम पाप नहीं करता। जो मनुष्य स्वयं दुबला या डरपोक बनकर दूसरों को अत्याचार करने के लिए ललचाता है, वह भी समाज का कम द्रोह नहीं करता। यात्री-समूह में जो मनुष्य धीरे चलता हो, सभी समुदाय को उसी की चाल से चलना पड़ता है। निर्बल लोग सङ्घ की गति को रोकते हैं। ठीक इसी तरह जो लोग मनुष्य की जीवन-यात्रा में ढीले और डरपोक होते हैं, वे भी मनुष्य की प्रगति को रोकते हैं। जैसे हम निर्बलों का साथ पसन्द नहीं

भिन्न जीवनवाले और भिन्न आदर्शवाले वर्ग के हाथ में समाज का अगुआपन सौंपकर प्राचीन काल में समाज-व्यवस्थापकों ने समाज की उन्नति का मार्ग सुरक्षित कर दिया था। किन्तु दुर्भाग्य-वश इन दोनों वर्गों को उनकी सम्पूर्णता के भ्रम ने पछाड़ा। दोनों वर्गों ने अज्ञानी रहने का पाप किया और समाज-द्रोह उनके सिर आ पड़ा। साधुगण षट्दर्शन-प्रवीण भले ही हों, भले ही दश ग्रन्थ उन्हें मुखाग्र हों, किन्तु जब तक वे जगत् की परिस्थिति को न समझें, समाज की नब्ज़ की परीक्षा न कर सकें, समाज को उसकी अपनी भाषा में यह न समझा सकें कि उनकी उन्नति का मार्ग किधर से होकर आता है, तब तक वे अज्ञानी ही हैं। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ जैसे साधुओं की इतनी प्रतिष्ठा क्यों हुई ? इसी लिए कि वे अपने सामाजिक कर्त्तव्यों को पहचानते थे।

राजाओं की भी ऐसी ही दशा है। पुरुषार्थ के बाद लक्ष्मी आती है, इस बात को भूलकर लक्ष्मी इकट्ठी करने की धुन में वे पुरुषार्थ को खो बैठे हैं। समाज का नेतृत्व करने के बदले उसे दबाने ही में उन्होंने अपनी शक्ति का व्यय किया है।

—काका कालेलकर

---

(१५) एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न

आज रात्रि को पर्यंक पर जाते ही अचानक आँख लग गई। सोते में सोचता क्या हूँ कि इस चलायमान शरीर का कुछ ठीक नहीं। इस संसार में नाम स्थिर रहने की कोई युक्ति निकल आवे तो अच्छा है, क्योंकि यहाँ की रीति देख मुझे पूरा विश्वास होता है कि इस चपल जीवन का क्षण-भर का भरोसा नहीं। ऐसा कहा भी है—

स्वाँस स्वाँस पर हरि भजो वृथा स्वाँस मति खोय।
ना जाने या स्वाँस को आवन होय न होय॥

देखो समय-सागर में एक दिन सब संसार अवश्य मग्न हो जायगा। कालवश शशि सूर्य भी नष्ट हो जायँगे। केवल आकाश में तारे भी कुछ काल पीछे दृष्टि न आवेंगे। और सब तो कीर्ति-कमल संसार-सरोवर में रहे वा न रहे, और सब तो एक दिन तत तवे की बुन्द हुए बैठे हैं। इस हेतु बहुत काल तक सोच समझ प्रथम यह विचार किया कि कोई देवालय छोड़ जाऊँ, परन्तु थोड़ी ही देर में समझ में आ गया कि इन दिनों की सभ्यता के अनुसार इससे बड़ी कोई मूर्खता नहीं, और यह तो मुझे भली भाँति मालूम है कि यही अँग-रेज़ी शिक्षा रही तो मन्दिर की ओर मुख फेरकर भी कोई न देखे। इस कारण इस विचार का परित्याग करना पड़ा।

फिर पड़े-पड़े पुस्तक रचने की सूझी। परन्तु इस विचार में बड़े काँटे निकले। क्योंकि बनाने की देर न होगी कि कीट "क्रिटिक" काटकर आधी से अधिक निगल जायँगे। यश के स्थान शुद्ध अपयश प्राप्त होगा। जब देखा कि अब टूटे-फूटे विचार से काम न चलेगा, तब लाड़िली नींद को देर रात पड़ोसियों के घर भेज आँख बन्दकर शम्भु की सी समाधि लगा गया, यहाँ तक कि इकसठ वा इक्यावन वर्ष उसी ध्यान में बीत गये। अन्त को एक मित्र के बल से अति उत्तम बात की पूँछ हाथ में पड़ गई। स्वप्न ही में प्रभात होते ही पाठशाला बनाने का विचार दृढ़ किया। परन्तु जब थैली में हाथ डाला, तो केवल ग्यारह गाड़ी ही मुहरें निकलीं। आप जानते हैं इतने में मेरी अपूर्व पाठशाला का एक कोना भी नहीं बन सकता था। निदान अपने इष्ट मित्रों की भी सहायता लेनी पड़ी। ईश्वर को कोटि धन्यवाद देता हूँ जिसने हमारी ऐसी सुनी। यदि ईंटों के ठौर मुहर चुनवा लेते तब भी तो दस पाँच रेल रुपये और खर्च पड़ते। होते-होते सब हरिकृपा से बनकर ठीक हुआ। इसमें जितना व्यय हुआ वह तो मुझे स्मरण नहीं है, परन्तु इतना अपने मुंशी से मैंने सुना था कि एक का अङ्क और तीन सौ सत्तासी शून्य अकेले पानी में पड़े थे। बनने को तो एक दम में सब बन गया था, परन्तु उसके काम जोड़ने में पूरे पचीस वर्ष लगे। जब हमारी अपूर्व पाठशाला बनकर ठीक हुई, उसी दिन हमने हिमा-

लय की कन्दराओं में से खोज-खोजकर अनेक उद्दण्ड पण्डित बुलवाये, जिनकी संख्या पौन दशमलव से अधिक नहीं है। इस पाठशाला में अनगनित अध्यापक नियत किये गये, परन्तु मुख्य केवल ये हैं,—पण्डित मुग्धमणि शास्त्री तर्कवाचस्पति प्रथम अध्यापक। पाखण्डप्रिय धर्माधिकारी, अध्यापक धर्मशास्त्र। प्राणान्तकप्रसाद वैद्यराज, अध्यापक वैद्यकशास्त्र। लुगलोचन ज्योतिषाभरण, अध्यापक ज्योतिषशास्त्र। शीलदावानल नीतिदर्पण, अध्यापक नीतिशास्त्र और आत्मविद्या।

इन पूर्वोक्त पण्डितों के आ जाने पर अर्ध रात्रि गये पाठशाला खोलने बैठे। उस समय सब इष्ट मित्रों के सम्मुख उस परमेश्वर को कोटि धन्यवाद दिया, जो संसार को बनाकर क्षण-भर में नष्ट कर देता है, और जिसने विद्या, शील, बल के सिवाय मान, मूर्खता, परद्रोह, परनिन्दा आदि परम गुणों से इस संसार को विभूषित किया है। हम कोटि धन्यवादपूर्वक आज इस सभा के सम्मुख अपने स्वार्थरत चित्त की प्रशंसा करते हैं जिसके प्रभाव से ऐसे उत्तम विद्यालय की नींव पड़ी। उस ईश्वर को ही अङ्गीकार था कि हमारा इस पृथ्वी पर कुछ नाम रहे, नहीं तो जब द्रव्य की खोज में समुद्र में डूबते-डूबते बचे थे तब कौन जानता था कि हमारी कपोल-कल्पना सत्य हो जायगी। परन्तु ईश्वर के अनुग्रह से हमारे सब सङ्कट दूर हुए और अन्त समय हमारी अभिलाषा पूर्ण हुई। हम अपने इष्ट-मित्रों की सहायता को कभी न भूलेंगे कि जिनकी कृपा से इतना द्रव्य

हाथ आया कि पाठशाला का सब खर्च चल गया, और दस पाँच पीढ़ी तक हमारी सन्तान के लिए बच रहा। हमारे पुत्र, परिवार के लोग चैन से हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे। हे सज्जनो, यह तुम्हारी कृपा का विस्तार है कि तन, मन से आप इस धर्म-कार्य्य में प्रवृत्त हुए, नहीं मैं दो हाथ पैरवाला बेचारा मनुष्य आपके आगे कौन कीड़ा था जो ऐसे दुष्कर कर्म को कर लेवा? यहाँ तो घर को केवल मूँछें ही मूँछें थीं। कुछ मेह कुछ गङ्गाजल, काम आपकी कृपा से भली भाँति हो गया। मैं आज के दिन को नित्यता का प्रथम दिन मानता हूँ, जो औरों को अनेक साधन से भी मिलना दुर्लभ है। धन्य है उस परमात्मा को जिसने हमारे यश के डहडहे अङ्कुर फिर हरे किये। हे सुजन शुभचिन्तको! संसार में पाठशालाएँ अनेक हुई होंगी, परन्तु हरि-कृपा से जो सकलपूर्ण कामधेनु यह पाठशाला है वैसी, अचरज नहीं कि, आपने इस जन्म में न देखी सुनी हो। होनहार बलवान् है, नहीं तो कलिकाल में ऐसी पाठशाला का बनाना कठिन था। देखिए, यह हम लोगों के भाग्य का उदय है कि ये महामुनि मुग्धमणि शास्त्री बिना प्रयास हाथ लग गये, जिनको सतयुग के आदि में इन्द्र अपनी पाठशाला के निमित्त समुद्र और वन जङ्गलों में खोजता फिरा; अन्त को हार मान बृहस्पति को रखना पड़ा। हम फिर भी कहते हैं कि यह हमारे भाग्य की महिमा थी कि वे ही पण्डितराज मृगयाशील श्वान के मुख में शशा के धोखे बद्रिकाश्रम की एक कन्दरा में

से पड़ गये। इनकी बुद्धि और विद्या की प्रशंसा करते दिन ं
सरस्वती भी लजाती है। इसमें सन्देह नहीं कि इनके थो.
ही परिश्रम से पण्डित मूर्ख और अबोध पण्डित हो जायँगे।

हे मित्र! मेरे निकट जो महाशय बैठे हैं इनका नाम पाखण्डप्रिय है। किसी समय इस देश में इनकी बड़ी मानता थी। सब स्त्री पुरुषों को इन्होंने मोह रक्खा था। परन्तु अब कालचक्र के मारे अँगरेज़ी पढ़े हिन्दुस्तानियों ने इनकी बड़ी दुर्दशा की। इस कारण प्राण बचाकर हिमालय की तराई में हरित दूर्वा पर सन्तोषकर अपना कालक्षेप करते थे। विपत्ति ईश्वर किसी पर न डाले। जब तक इनका राज था, दधि बचाकर भोग लगाया करते थे। कहाँ अब श्वान-शृगाल के सङ्ग दिन काटने पड़े। परन्तु फिर भी इनकी बुद्धि पर पूरा विश्वास है कि एक कार्तिक मास भी इनको लोग थिर रह जाने देंगे तो हरि-कृपा से समस्त नवीन धर्मों पर चार-पाँच दिन में पानी फेर देंगे।

इनसे भिन्न, पण्डित प्राणान्तकप्रसाद भी प्रशंसनीय पुरुष हैं। जब तक इस घट में प्राण हैं तब तक न किसी पर इनकी प्रशंसा बन पड़ी न बन पड़ेगी। ये महावैद्य के नाम से इस समस्त संसार में विख्यात हैं। चिकित्सा में ऐसे कुशल हैं कि चिता पर चढ़ते-चढ़ते रोगी इनके उपकार का गुन नहीं भूलता। कितना ही रोग से पीड़ित क्यों न हो, क्षण भर में स्वर्ग के सुख को प्राप्त होता है। जब तक औषधि नहीं देते

केवल उसी समय तक प्राणी के संसारी विथा लगी रहती है। आप लोग कुछ काल की अपेक्षा कीजिए। इनकी चिकित्सा और चतुराई अपने आप प्रकट हो जायगी। यद्यपि आपके अमूल्य समय में बाधा हुई, परन्तु यह भी स्वदेश की भलाई का काम था, इस हेतु आप आतुर न हूजिए और शेष अध्यापकों की अमृतमय जीवन-कहानी श्रवण कीजिए।

ये लुप्तलोचन ज्योतिषाभरण बड़े उद्दण्ड पण्डित हैं। ज्योतिष विद्या में अति कुशल हैं। कुछ नवीन तारे भी गगन में जाकर ये ढूँढ़ आये हैं और कितने ही नवीन ग्रन्थों की भी इन्होंने रचना कर डाली है। उनमें से "तामिस्रमकरालय" प्रसिद्ध और प्रशंसनीय है। यद्यपि इनको विशेष दृष्टि नहीं आता, परन्तु तारे इनकी आँखों में भली भाँति बैठ गये हैं।

रहे पण्डित शीलदावानल नीति-दर्पण। इनके गुण अपार हैं। समय थोड़ा है, इस हेतु थोड़ा सा आप लोगों के आगे इनका वर्णन किया जाता है। ये महाशय बाल-ब्रह्मचारी हैं। अपनी आयु भर नीतिशास्त्र पढ़ते-पढ़ाते रहे हैं। इनसे नीति तो बहुत से महात्माओं ने पढ़ी थी परन्तु वेणु, बाणासुर, रावण, दुर्योधन, शिशुपाल, कंस आदि इनके मुख्य शिष्य थे। और अब भी कोई कठिन काम आकर पड़ता है तो अँगरेज़ी न्यायकर्ता भी इनको अनुमति लेकर आगे बढ़ते हैं। हम अपने भाग्य को कहाँ तक सराहना करें! ऐसा तो संयोग इस संसार में परम दुर्लभ है। अब आप सब सज्जनों से यही प्रार्थना है

से पड़ गये। इनकी बुद्धि और विद्या की प्रशंसा करते दिन में सरस्वती भी लजाती है। इसमें सन्देह नहीं कि इनके थोड़े ही परिश्रम से पण्डित मूर्ख और अबोध पण्डित हो जायँगे।

हे मित्र! मेरे निकट जो महाशय बैठे हैं इनका नाम पाखण्डप्रिय है। किसी समय इस देश में इनकी बड़ी मानता थी। सब स्त्री पुरुषों को इन्होंने मोह रक्खा था। परन्तु अब कालचक्र के मारे अँगरेज़ी पढ़े हिन्दुस्तानियों ने इनकी बड़ी दुर्दशा की। इस कारण प्राण बचाकर हिमालय की तराई में हरित दूर्वा पर सन्तोषकर अपना कालक्षेप करते थे। विपत्ति ईश्वर किसी पर न डाले। जब तक इनका राज था, हरि बचाकर भोग लगाया करते थे। कहाँ अब श्वान-शृगाल के सङ्ग दिन काटने पड़े। परन्तु फिर भी इनकी बुद्धि पर पूरा विश्वास है कि एक कार्तिक मास भी इनको लोग घिर रह जाने देंगे तो हरि-कृपा से समस्त नवीन धर्मों पर चार-पाँच दिन में पानी फेर देंगे।

इनसे भिन्न, पण्डित प्राणान्तकप्रसाद भी प्रशंसनीय पुरुष हैं। जब तक इस घट में प्राण हैं तब तक न किसी पर इनकी प्रशंसा बन पड़ी न बन पड़ेगी। ये महावैद्य के नाम से इस समस्त संसार में विख्यात हैं। चिकित्सा में ऐसे कुशल हैं कि चिता पर चढ़ते-चढ़ते रोगी इनके उपकार का गुण नहीं भूलता। कितना ही रोग से पीड़ित क्यों न हो, क्षण भर में स्वर्ग के सुख को प्राप्त होता है। जब तक औषधि नहीं देते

केवल उसी समय तक प्राणी के संसारी विथा लगी रहती है। आप लोग कुछ काल की अपेक्षा कीजिए। इनकी चिकित्सा और चतुराई अपने आप प्रकट हो जायगी। यद्यपि आपके अमूल्य समय में बाधा हुई, परन्तु यह भी स्वदेश की भलाई का काम था, इस हेतु आप आतुर न हूजिए और शेष अध्यापकों की अमृतमय जीवन-कहानी श्रवण कीजिए।

ये लुप्तलोचन ज्योतिषाभरण बड़े उद्दण्ड पण्डित हैं। ज्योतिष विद्या में अति कुशल हैं। कुछ नवीन तारे भी गगन में जाकर ये ढूँढ़ आये हैं और कितने ही नवीन ग्रन्थों की भी इन्होंने रचना कर डाली है। उनमें से "तामिस्रमकरालय" प्रसिद्ध और प्रशंसनीय है। यद्यपि इनको विशेष दृष्टि नहीं आता, परन्तु तारे इनकी आँखों में भली भाँति बैठ गये हैं।

रहे पण्डित शीलदावानल नीति-दर्पण। इनके गुण अपार हैं। समय थोड़ा है, इस हेतु थोड़ा सा आप लोगों के आगे इनका वर्णन किया जाता है। ये महाशय बाल-ब्रह्मचारी हैं। अपनी आयु भर नीतिशास्त्र पढ़ते-पढ़ाते रहे हैं। इनसे नीति तो बहुत से महात्माओं ने पढ़ी थी परन्तु वेण, बाणासुर, रावण, दुर्योधन, शिशुपाल, कंस आदि इनके मुख्य शिष्य थे। और अब भी कोई कठिन काम आकर पड़ता है तो अँगरेज़ी न्यायकर्ता भी इनकी अनुमति लेकर आगे बढ़ते हैं। हम अपने भाग्य की कहाँ तक सराहना करें! ऐसा तो संयोग इस संसार में परम दुर्लभ है। अब आप सब सज्जनों से यह प्रार्थना है

कि आप अपने-अपने लड़कों को भेजें और व्यय आदि की कुछ चिन्ता न करें, क्योंकि प्रथम तो हम किसी अध्यापक को मासिक देंगे नहीं और दिया भी तो अभी दस-पाँच वर्ष पीछे देखा जायगा। यदि हमको भोजन की श्रद्धा हुई तो भोजन का संधान बाँध देंगे, नहीं यह नियत कर देंगे कि जो पाठशाला-सम्बन्धी द्रव्य हो उसका वे सब मिलकर नास लिया करें।

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(१६) करुणा

जब बच्चे को सम्बन्ध-ज्ञान कुछ कुछ होने लगता है तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करुणा कहते हैं। बच्चा पहले यह देखता है कि जैसे हम हैं वैसे ही ये और प्राणी भी हैं और बिना किसी विवेचन-क्रम के, स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा, वह अपने अनुभवों का आरोप दूसरे प्राणियों पर करता है। फिर कार्य्य-कारण-सम्बन्ध से अभ्यस्त होने पर दूसरों के दुःख के कारण या कार्य्य को देखकर उनके दुःख का अनुमान करता है और स्वयं एक प्रकार का दुःख अनुभव करता है। प्रायः देखा जाता है कि जब माँ झूठ-मूठ 'ऊँ ऊँ' करके रोने लगती है तब कोई कोई बच्चे भी रो पड़ते हैं। इसी प्रकार जब उनके किसी भाई या बहन को कोई मारने उठता है तब वे कुछ चञ्चल हो उठते हैं।

दुःख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उलटा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं। इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दुःख और आनन्द दोनों की श्रेणियों में रक्खी गई है। आनन्द की श्रेणी में ऐसा कोई शुद्ध मनोविकार

नहीं है जो पात्र की हानि को उत्तेजना करे, पर दुःख की श्रे
में ऐसा मनोविकार है जो पात्र की भलाई की उत्तेजना कर
है। लोभ से, जिसे मैंने आनन्द की श्रेणी में रक्खा है, चाहे
कभी-कभी और व्यक्तियों या वस्तुओं को हानि पहुँच जाय पर
जिसे जिस व्यक्ति या वस्तु का लोभ होगा, उसकी हानि वह
कभी न करेगा। लोभी महमूद ने सोमनाथ को तोड़ा, प
भीतर से जो जवाहरात निकले उनको ख़ूब सँभाल कर रक्खा
नूरजहाँ के रूप के लोभी जहाँगीर ने शेरअफ़गन को मरवा
पर नूरजहाँ को बड़े चैन से रक्खा।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य ज्योंही समाज में प्र
करता है, उसके सुख और दुःखों का बहुत सा अंश दूसरों
क्रिया या अवस्था पर अवलम्बित हो जाता है और उसके
विकारों के प्रवाह तथा जीवन के विस्तार के लिए अधिक क्षेत्र
हो जाता है। वह दूसरों के दुःख से दुखी और दूसरों के
सुख से सुखी होने लगता है। अब देखना यह है कि दूसरों
के दुःख से दुखी होने का नियम जितना व्यापक है, क्या
उतना ही दूसरों के सुख से सुखी होने का भी है। मैं समझता
हूँ, नहीं। हम अज्ञात-कुल-शील मनुष्य के दुःख को देखकर
भी दुखी होते हैं। किसी दुखी मनुष्य को सामने देख हम
अपना दुखी होना तब तक के लिए बन्द नहीं रखते जब तक
कि यह न मालूम हो जाय कि वह कौन है, कहाँ रहता है और
कैसा है। यह और बात है कि यह जानकर, कि जिसे पीड़ा

पहुँच रही है उसने कोई भारी अपराध या अत्याचार किया है, हमारी दया दूर या कम हो जाय। ऐसे अवसर पर हमारे ध्यान के सामने वह अपराध या अत्याचार आ जाता है और उस अपराधी या अत्याचारी का वर्त्तमान क्लेश हमारे क्रोध की तुष्टि का साधक हो जाता है।

सारांश यह कि करुणा की प्राप्ति के लिए पात्र में दुःख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नहीं। पर आनन्दित हम ऐसे ही सुख को देखकर होते हैं जो या तो हमारा सुहृद् या सम्बन्धी हो अथवा अत्यन्त सज्जन, शीलवान् या चरित्रवान् होने के कारण समाज का मित्र या हितकारी हो। योंही किसी अज्ञात व्यक्ति का लाभ या कल्याण सुनने से हमारे हृदय में किसी प्रकार के आनन्द का उदय नहीं होता। इससे प्रकट है कि दूसरों के दुःख से दुखी होने का नियम बहुत व्यापक है और दूसरों के सुख से सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा परिमित है। इसके अतिरिक्त दूसरों को सुखी देखकर जो आनन्द होता है उसका न तो कोई अलग नाम रक्खा गया है और न उसमें वेग या प्रेरणा होती है। पर दूसरों के दुःख के परिज्ञान से जो दुःख होता है, वह करुणा दया आदि नामों से पुकारा जाता है और अपने कारण को दूर करने की उत्तेजना करता है।

जब कि अज्ञात व्यक्ति के दुःख पर दया बराबर उत्पन्न होती है तब जिस व्यक्ति के साथ हमारा अधिक संसर्ग होता

प्रवृत्ति हो वह सात्त्विक है। कृपा या अनुग्रह से भी दूसरों के सुख की योजना की जाती है; पर एक तो कृपा या अनुग्रह में आत्मभाव छिपा रहता है और उसकी प्रेरणा से पहुँचाया हुआ सुख एक प्रकार का प्रतीकार है। दूसरी बात यह कि नवीन सुख की योजना की अपेक्षा प्राप्त दुःख की निवृत्ति की आवश्यकता अत्यन्त अधिक है।

दूसरे के उपस्थित दुःख से उत्पन्न दुःख का अनुभव अपनी तीव्रता के कारण मनोविकारों की श्रेणी में माना जाता है, पर अपने भावी आचरण द्वारा दूसरे के सम्भाव्य दुःख का ध्यान या अनुमान, जिसके द्वारा हम ऐसी बातों से बचते हैं, जिनसे अकारण दूसरे को दुःख पहुँचे, शील या साधारण सद्वृत्ति के अन्तर्गत समझा जाता है। बोलचाल की भाषा में तो 'शील' शब्द से चित्त की कोमलता या मुरौवत ही का भाव समझा जाता है, जैसे 'उनकी आँखों में शील नहीं है', 'शील तोड़ना अच्छा नहीं'। दूसरों का दुःख दूर करना और दूसरों को दुःख न पहुँचाना इन दोनों बातों का निर्वाह करनेवाला नियम न पालने का दोषी हो सकता है, पर दुःशीलता या दुर्भाव का नहीं। ऐसा मनुष्य झूठ बोल सकता है, पर ऐसा नहीं जिससे किसी का कोई काम बिगड़े या जी दुखे। यदि वह किसी अवसर पर बड़ों की कोई बात न मानेगा तो इसलिए कि वह उसे ठीक नहीं जँचती या वह उसके अनुकूल चलने में असमर्थ है; इसलिए नहीं कि बड़ों का अकारण जी दुखे।

करुणा और सात्त्विकता का सम्बन्ध इस बात से और भी सिद्ध होता है कि किसी पुरुष को दूसरे पर करुणा करते देख तीसरे को करुणा करनेवाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। किसी प्राणी में और किसी मनोवेग को देख श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। किसी को क्रोध, भय, ईर्ष्या, घृणा, आनन्द आदि करते देख लोग उस पर श्रद्धा नहीं कर बैठते। क्रिया में तत्पर करनेवाली प्राणियों की आदि अन्तःकरण-वृत्ति मन या मनोवेग हैं। अतः इन मनोवेगों में से जो श्रद्धा का विषय हो वही सात्त्विकता का आदि-संस्थापक ठहरा। दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि मनुष्य के आचरण के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं; बुद्धि नहीं। बुद्धि दो वस्तुओं के रूपों को अलग-अलग दिखला देगी। यह मनुष्य के मन के वेग या प्रवृत्ति पर है कि वह उनमें से किसी एक को चुनकर कार्य में प्रवृत्त हो। यदि विचार कर देखा जाय तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि अन्तःकरण की सारी वृत्तियाँ केवल मनोवेगों की सहायक हैं, वे भावों या मनोवेगों के लिए उपयुक्त विषय मात्र ढूँढ़ती हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति पर भाव को और भावना को तीव्र करनेवाले कवियों का प्रभाव प्रकट ही है।

प्रिय के वियोग से जो दुःख होता है कभी-कभी उसमें दया या करुणा का भी कुछ अंश मिला रहता है। ऊपर कहा जा चुका है कि करुणा का विषय दूसरे का दुःख है। अतः प्रिय के वियोग में इस विषय की भावना किस प्रकार

मेरे विचार में तो 'सदा सत्य बोलना,' 'बड़ों का कहना मानना' आदि नियम के अन्तर्गत हैं, शील या सद्भाव के अन्तर्गत नहीं। झूठ बोलने से बहुधा बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं इसी से उसका अभ्यास रोकने के लिए यह नियम कर दिया गया कि किसी अवस्था में झूठ बोला ही न जाय। पर मनोरञ्जन, खुशामद और शिष्टाचार आदि के बहाने संसार में बहुत सा झूठ बोला जाता है जिस पर कोई समाज कुपित नहीं होता। किसी-किसी अवस्था में तो धर्म-ग्रन्थों में झूठ बोलने की इजाज़त तक दे दी गई है, विशेषतः जब इस नियम-भङ्ग द्वारा अन्तःकरण की किसी उच्च और उदार वृत्ति का साधन होता हो। यदि किसी के झूठ बोलने से कोई निरपराध और निःसहाय व्यक्ति अनुचित दण्ड से बच जाय तो ऐसा झूठ बोलना बुरा नहीं बतलाया गया है, क्योंकि नियम शील या सद्वृत्ति का साधक है, समकक्ष नहीं। मनोवेग-वर्जित सदाचार दम्भ या झूठी क़वायद है। मनुष्य के अन्तःकरण में सात्त्विकता की ज्योति जगानेवाली यही करुणा है। इसी से जैन और बौद्ध धर्म में इसको बड़ी प्रधानता दी गई है और गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है—

पर-उपकार सरिस न भलाई।
पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

यह बात स्थिर और निर्विवाद है कि श्रद्धा का विषय किसी न किसी रूप में सात्त्विक शील ही होता है। अतः

करुणा और सात्विकता का सम्बन्ध इस बात से और भी सिद्ध होता है कि किसी पुरुष को दूसरे पर करुणा करते देख तीसरे को करुणा करनेवाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। किसी प्राणी में और किसी मनोवेग को देख श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। किसी को क्रोध, भय, ईर्ष्या, घृणा, आनन्द आदि करते देख लोग उस पर श्रद्धा नहीं कर बैठते। क्रिया में तत्पर करनेवाली प्राणियों की आदि अन्तःकरण-वृत्ति मन या मनोवेग हैं। अतः इन मनोवेगों में से जो श्रद्धा का विषय हो वही सात्त्विकता का आदि-संस्थापक ठहरा। दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि मनुष्य के आचरण के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं; बुद्धि नहीं। बुद्धि दो वस्तुओं के रूपों को अलग-अलग दिखला देगी। यह मनुष्य के मन के वेग या प्रवृत्ति पर है कि वह उनमें से किसी एक को चुनकर कार्य में प्रवृत्त हो। यदि विचार कर देखा जाय तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि अन्तःकरण की सारी वृत्तियाँ केवल मनोवेगों की सहायक हैं, वे भावों या मनोवेगों के लिए उपयुक्त विषय मात्र ढूँढ़ती हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति पर भाव को और भावना को तीव्र करनेवाले कवियों का प्रभाव प्रकट ही है।

प्रिय के वियोग से जो दुःख होता है कभी-कभी उसमें दया या करुणा का भी कुछ अंश मिला रहता है। ऊपर कहा जा चुका है कि करुणा का विषय दूसरे का दुःख है। अतः प्रिय के वियोग में इस विषय की भावना किस प्रकार

कोई रख सकता है। श्रीकृष्ण गोकुल से मथुरा चले गये जहाँ सब प्रकार का सुख-वैभव था; पर यशोदा इसी सोच में मरती रहीं कि—

> प्रात समय उठि माखन रोटी को बिन माँगे दैहै ?
> को मेरे बालक कुँवर कान्ह को छिन-छिन आगो लैहै ?

और उद्धव से कहती हैं—

> सँदेसो देवकी सों कहियो।
> हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥
> उबटन, तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।
> जोइ-जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम-क्रम करके न्हाते॥
> तुम तो टेव जानतिहि ह्वैहो, तऊ मोहि कहि आवै।
> प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतहि माखन-रोटी भावै॥
> अब यह सूर मोहि निसि-बासर बड़ो रहत जिय सोच।
> अब मेरे अलकलड़ैते लालन ह्वैहैं करत सँकोच॥

वियोग की दशा में गहरे प्रेमियों को प्रिय के सुख का अनिश्चय ही नहीं कभी-कभी घोर अनिष्ट की आशङ्का तक होती है, जैसे एक पति-वियोगिनी स्त्री सन्देह करती है कि—

> नदी-किनारे धुआँ उठत है, मैं जानूँ कछु होय।
> जिसके कारण मैं जली, वही न जलता होय॥

शुद्ध वियोग का दुःख केवल प्रिय के अलग हो जाने की भावना से उत्पन्न क्षोभ या विषाद है जिसमें प्रिय के दुःख या कष्ट आदि की कोई भावना नहीं रहती।

जिस व्यक्ति से किसी की घनिष्ठता और प्रीति होती है वह उसके जीवन के बहुत से व्यापारों तथा मनोवृत्तियों का आधार होता है। उसके जीवन का बहुत सा अंश उसी के सम्बन्ध द्वारा व्यक्त होता है। मनुष्य अपने लिए संसार आप बनाता है। संसार तो कहने-सुनने के लिए है, वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं जिनसे उसका संसर्ग व्यवहार है। अतः ऐसे लोगों में से किसी का दूर होना उस संसार के एक प्रधान अंश का कट जाना या जीवन के ए अङ्ग का खण्डित हो जाना है। किसी प्रिय या सुहृद् के चिरवियोग या मृत्यु के शोक के साथ करुणा या दया का भाव मिलकर चित्त को बहुत व्याकुल करता है। किसी के मरने पर उसके प्राणी उसके साथ किये हुए अन्याय या कुव्यवहार, तथा उसकी इच्छा-पूर्ति करने में अपनी त्रुटियों का स्मरण कर और यह सोचकर कि उसकी आत्मा को सन्तुष्ट करने की सम्भावना सब दिन के लिए जाती रही, बहुत अधीर और व्याकुल होते हैं।

सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है। समाज-शास्त्र के पश्चिमी ग्रन्थकार कहा करें कि समाज में एक दूसरे की सहायता अपनी-अपनी रक्षा के विचार से की जाती है; यदि ध्यान से देखा जाय तो कर्मक्षेत्र में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देनेवाली, किसी न किसी रूप में, करुणा ही दिखाई देगी। मेरा यह कहना

समय और जिस स्थान पर देखता है उसकी उसी समय और उसी स्थान की अवस्था का अनुभव उसे होता है। पर स्मृति, अनुमान या दूसरों से प्राप्त ज्ञान के सहारे मनुष्य का ज्ञान इस परिमिति को लाँघता हुआ अपना देश-काल-सम्बन्धी विस्तार बढ़ाता है। प्रस्तुत विषय के सम्बन्ध में उपयुक्त भाव प्राप्त करने के लिए यह विस्तार कभी-कभी आवश्यक होता है। मनोविकारों की उपयुक्तता कभी-कभी इस विस्तार पर निर्भर रहती है। किसी मार खाते हुए अपराधी के विलाप पर हमें दया आती है; पर जब हम सुनते हैं कि कई स्थानों पर कई बार वह बड़े-बड़े अपराध कर चुका है, इससे आगे भी ऐसे ही अत्याचार करेगा, तो हमें अपनी दया की अनुपयुक्तता मालूम हो जाती है। ऊपर कहा जा चुका है कि स्मृति और अनुमान आदि भावों या मनोविकारों के केवल सहायक हैं अर्थात् प्रकारान्तर से वे उनके लिए विषय उपस्थित करते हैं। वे कभी तो आप से आप विषयों को मन के सामने लाते हैं; कभी किसी विषय के सामने आने पर उससे सम्बन्ध (पूर्वापर या कार्य-कारण-सम्बन्ध) रखनेवाले और बहुत से विषय उपस्थित करते हैं जो कभी तो सब के सब एक ही भाव के विषय होते हैं और उस प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न भाव को तीव्र करते हैं, कभी भिन्न भावों के विषय होकर प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न भावों को परिवर्त्तित या धीमा करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मनोवेग या भावों को मन्द या दूर करने-

नहीं। इससे स्पष्ट है कि परस्पर माहात्म्य के
उद्देश्य है उनका धारण करनेवाला मनुष्य का छोटा
करना नहीं, विशालता है।

दूसरों के, विशेषतः अपने परिचितों के, थोड़े
शोक पर जो वेगरहित दुःख होता है उसे सहानुभूति
शिष्टाचार में इस शब्द का प्रयोग इतना अधिक
कि यह निकम्मा सा हो गया है। अब प्रायः इ
हृदय का कोई सच्चा भाव नहीं समझा जाता है।
के बाद, सहानुभूति की चिट्ठियाँ लोग यों ही भेजा
यह छद्म-शिष्टता मनुष्य के व्यवहारक्षेत्र से सच्चाई
क्रमशः चरती जा रही है।

करुणा अपना बीज अपने आलम्बन या पा
फेंकती है अर्थात् जिसपर करुणा की जाती है वह
करुणा करनेवाले पर भी करुणा नहीं करता—जैसा
और प्रेम में होता है—बल्कि कृतज्ञ होता अथवा श्रद्धा
करता है। बहुत सी औपन्यासिक कथाओं में यह बा
लाई गई है कि युवतियाँ दुष्टों के हाथ से अपना उद्धार
वाले युवकों के प्रेम में फँस गई हैं। कोमल भावों की
में दक्ष बँगला के उपन्यास-लेखक करुणा और प्रीति के
बड़े ही प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करते हैं।

मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान में देश और काल की पर
अत्यन्त सङ्कुचित होती है। मनुष्य जिस वस्तु को

पर विवश और कठपुतली सा जड़ होता जाता
...ष्ठ का नाश होता जाता है। पाषण्डी
...का सच्चा निर्वाह न देख, हवाई ही मुँह बना-
...लगे हैं—"करुणा छोड़ो, प्रेम छोड़ो, आनन्द
...हाथ पैर हिलाओ, काम करो।"
...है कि मनोवेग उत्पन्न होना और बात है और
...सार व्यवहार करना और बात; पर अनुसारी
...न्तर अभाव से मनोवेगों का अभ्यास भी घटने
...दि कोई मनुष्य आवश्यकतावश कोई निष्ठुर
...र ले ले तो पहले दो-चार बार उसे दया उत्पन्न
बार-बार दया की प्रेरणा के अनुसार कोई परि-
...स्थित न कर सकेगा तब धीरे-धीरे उसका दया
...म होने लगेगा। यहाँ तक कि उसकी दया
...ारी जायगी।

ऐसे अवसर ...पड़ते हैं जिनमें करुणा आदि
... ...या जा सकता। पर ऐसे
...संख्या का ...ठीक नहीं है। जीवन में
...अनुसारी ...विरोध प्रायः तीन वस्तुओं
...२ ...३ न्याय। हमारा
... ...करने में बहुत अशक्त हो
...होता है। हमें उसकी
आवश्यकता के अनुरोध से

ाली, स्मृति, अनुमान या बुद्धि आदि कोई दूसरी अन्तःकरण-
ृत्ति नहीं है, मन का दूसरा भाव या वेग ही है।

मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में, भावों की
त्परता में, है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को
ूर करने का उपदेश घोर पाखण्ड है। इस विषय में कवियों
ा प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर शान ही नहीं
ढ़ाते बल्कि उन्हें परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थों के
ाथ उनके उपयुक्त सम्बन्ध निर्वाह पर ज़ोर देते हैं। यदि
नोवेग न हों तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि के रहते भी
नुष्य बिलकुल जड़ है। प्रचलित सभ्यता और जीवन की कठि-
ता से मनुष्य अपने इन मनोवेगों को मारने और अशक्त करने
र विवश होता जाता है,—इनका पूर्ण और सच्चा निर्वाह करने
लिए कठिन होता जाता है और इस प्रकार उसके जीवन
ा स्वाद निकलता जाता है। वन, नदी, पर्वत आदि को देख
ानन्दित होने के लिए अब उसके हृदय में उतनी जगह नहीं।
ाचार पर उसे क्रोध या घृणा होती है पर झूठे शिष्टाचार के
नुसार उसे दुराचारी की भी मुँह पर प्रशंसा करनी पड़ती
। जीवन-निर्वाह की कठिनता से उत्पन्न स्वार्थ की शुष्क
या के कारण उसे दूसरे के दुःख की ओर ध्यान देने,
पर दया करने और उसके दुःख की निवृत्ति का सुख
करने की फ़ुरसत नहीं। इस प्रकार मनुष्य हृदय को
कर केवल क्रूर आवश्यकता और कृत्रिम नियमों के अनु-

सार ही चलने पर विवश और कठपुतली सा जड़ होता जाता है। इसको भावुकता का नाश होता जाता है। पाखण्डी लोग मनोवेगों का सच्चा निर्वाह न देख, हताश हो मुँह बना-बनाकर कहने लगे हैं—"करुणा छोड़ो, प्रेम छोड़ो, आनन्द छोड़ो। बस हाथ पैर हिलाओ, काम करो।"

यह ठीक है कि मनोवेग उत्पन्न होना और बात है और मनोवेग के अनुसार व्यवहार करना और बात; पर अनुसारी परिणाम के निरन्तर अभाव से मनोवेगों का अभ्यास भी घटने लगता है। यदि कोई मनुष्य आवश्यकतावश कोई निष्ठुर कार्य अपने ऊपर ले ले तो पहले दो-चार बार उसे दया उत्पन्न होगी, पर जब बार-बार दया की प्रेरणा के अनुसार कोई परिणाम वह उपस्थित न कर सकेगा तब धीरे-धीरे उसका दया का अभ्यास कम होने लगेगा। यहाँ तक कि उसकी दया की वृत्ति ही मारी जायगी।

बहुत से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जिनमें करुणा आदि मनोवेगों के अनुसार काम नहीं किया जा सकता। पर ऐसे अवसरों की संख्या का बहुत बढ़ना ठीक नहीं है। जीवन में मनोवेगों के अनुसारी परिणामों का विरोध प्रायः तीन वस्तुओं से होता है—१ आवश्यकता, २ नियम और ३ न्याय। हमारा कोई नौकर बहुत बुड्ढा और कार्य्य करने में बहुत अशक्त हो गया है जिससे हमारे काम में हर्ज होता है। हमें उसकी अवस्था पर दया तो आती है पर आवश्यकता के अनुरोध से

उसे अलग करना पड़ता है। किसी दुष्ट अफ़सर के कुवाक्य पर क्रोध तो आता है पर मातहत लोग आवश्यकता के वश उस क्रोध के अनुसार कार्य करने की कौन कहे, उसका चिह्न तक नहीं प्रकट होने देते। यदि कहीं पर यह नियम है कि इतना रुपया देकर लोग कोई कार्य करने पायें तो जो व्यक्ति रुपया वसूल करने पर नियुक्त होगा वह किसी ऐसे दीन अकिञ्चन को देख, जिसके पास एक पैसा भी न होगा, दया तो करेगा पर नियम के वशीभूत हो उसे वह उस कार्य को करने से रोकेगा। राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी रानी शैव्या से अपने ही मृत पुत्र के कफ़न का टुकड़ा फड़वा नियम का अद्भुत पालन किया था। पर यह समझ रखना चाहिए कि यदि शैव्या के स्थान पर कोई दूसरी स्त्री होती तो राजा हरिश्चन्द्र के उस नियम-पालन का उतना महत्त्व न दिखाई पड़ता; करुणा ही लोगों की श्रद्धा को अपनी ओर अधिक खींचती है। करुणा का विषय दूसरे का दुःख है; अपना दुःख नहीं। आत्मीय जनों का दुःख एक प्रकार से अपना ही दुःख है। इससे राजा हरिश्चन्द्र के नियम-पालन का जितना स्वार्थ से विरोध था उतना करुणा से नहीं।

न्याय और करुणा का विरोध प्रायः सुनने में आता है। न्याय से ठीक प्रतीकार का भाव समझा जाता है। यदि किसी ने हमसे १०००) उधार लिये तो न्याय यह है कि वह हमें १०००) रुपये लौटा दे। यदि किसी ने कोई अपराध

किया तो न्याय यह है कि उसको दण्ड मिले। यदि १०००) लेने के उपरान्त उस व्यक्ति पर कोई आपत्ति पड़ी और उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई तो न्याय पालने के विचार का विरोध करुणा कर सकती है। इसी प्रकार यदि अपराधी मनुष्य बहुत रोता-गिड़गिड़ाता और कान पकड़ता है तथा पूर्ण दण्ड की अवस्था में अपने परिवार की घोर दुर्दशा का वर्णन करता है, तो न्याय के पूर्ण निर्वाह का पूर्ण विरोध करुणा कर सकती है। ऐसी अवस्थाओं में करुणा करने का सारा अधिकार विपक्षी अर्थात् जिसका रुपया चाहिए या जिसका अपराध किया गया है उसको है, न्यायकर्त्ता या तीसरे व्यक्ति को नहीं। जिसने अपनी कमाई के १०००) अलग किये, या अपराध द्वारा जो क्षति-ग्रस्त हुआ, विश्वात्मा उसी के हाथ में करुणा ऐसी उच्च सद्वृत्ति के पालन का शुभ अवसर देती है। करुणा सेंत का सौदा नहीं है। यदि न्यायकर्त्ता को करुणा है तो वह उसकी शान्ति पृथक् रूप से कर सकता है, जैसे ऊपर लिखे मामलों में वह चाहे तो दुखिया ऋणी को हज़ार-पाँच सौ अपने पास से दे दे या दण्डित व्यक्ति तथा उसके परिवार की और प्रकार से सहायता कर दे। उसके लिए भी करुणा का द्वार खुला है।

—रामचन्द्र शुक्ल

उसे अलग करना पड़ता है। किसी दुष्ट अफ़सर के कुवाक्य पर क्रोध तो आता है पर मातहत लोग आवश्यकता के वश उस क्रोध के अनुसार कार्य करने की कौन कहे, उसका चिह्न तक नहीं प्रकट होने देते। यदि कहीं पर यह नियम है कि इतना रुपया देकर लोग कोई कार्य करने पायें तो जो व्यक्ति रुपया वसूल करने पर नियुक्त होगा वह किसी ऐसे दीन अकिञ्चन को देख, जिसके पास एक पैसा भी न होगा, दया तो करेगा पर नियम के वशीभूत हो उसे वह उस कार्य को करने से रोकेगा। राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी रानी शैव्या से अपने ही मृत पुत्र के कफ़न का टुकड़ा फड़वा नियम का अद्भुत पालन किया था। पर यह समझ रखना चाहिए कि यदि शैव्या के स्थान पर कोई दूसरी स्त्री होती तो राजा हरिश्चन्द्र के उस नियम-पालन का उतना महत्त्व न दिखाई पड़ता; करुणा ही लोगों की श्रद्धा को अपनी ओर अधिक खींचती है। करुणा का विषय दूसरे का दुःख है; अपना दुःख नहीं। आत्मीय जनों का दुःख एक प्रकार से अपना ही दुःख है। इससे राजा हरिश्चन्द्र के नियम-पालन का जितना स्वार्थ से विरोध था उतना करुणा से नहीं।

न्याय और करुणा का विरोध प्रायः सुनने में आता है। न्याय से ठीक प्रतीकार का भाव समझा जाता है। यदि किसी ने हमसे १०००) उधार लिये तो न्याय यह है कि वह हमें १०००) रुपये लौटा दे। यदि किसी ने कोई अपराध

किया तो न्याय यह है कि उसको दण्ड मिले। यदि १०००) लेने के उपरान्त उस व्यक्ति पर कोई आपत्ति पड़ी और उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई तो न्याय पालने के विचार का विरोध करुणा कर सकती है। इसी प्रकार यदि अपराधी मनुष्य बहुत रोता-गिड़गिड़ाता और कान पकड़ता है तथा पूर्ण दण्ड की अवस्था में अपने परिवार की घोर दुर्दशा का वर्णन करता है, तो न्याय के पूर्ण निर्वाह का पूर्ण विरोध करुणा कर सकती है। ऐसी अवस्थाओं में करुणा करने का सारा अधिकार विपक्षी अर्थात् जिसका रुपया चाहिए या जिसका अपराध किया गया है उसको है, न्यायकर्त्ता या तीसरे व्यक्ति को नहीं। जिसने अपनी कमाई के १०००) अलग किये, या अपराध द्वारा जो क्षति-ग्रस्त हुआ, विश्वात्मा उसी के हाथ में करुणा ऐसी उच्च सद्‌वृत्ति के पालन का शुभ अवसर देती है। करुणा सेंत का सौदा नहीं है। यदि न्यायकर्त्ता को करुणा है तो वह उसकी शान्ति पृथक् रूप से कर सकता है, जैसे ऊपर लिखे मामलों में वह चाहे तो दुखिया ऋणी को हज़ार-पाँच सौ अपने पास से दे दे या दण्डित व्यक्ति तथा उसके परिवार की और प्रकार से सहायता कर दे। उसके लिए भी करुणा का द्वार खुला है।

—रामचन्द्र शुक्ल

(१७) एक चित्र की दो आकृतियाँ

उन दिनों में भी लोग मेरी किताबों को इसी शौक़ से पढ़ते थे। मेरी कहानियों के लिए लोग उस समय भी इसी प्रकार लालायित रहते थे; लेकिन मेरी आर्थिक अवस्था कुछ सन्तोष-जनक न थी। मिल जाता तो खा लेता; न मिलता तो न खाता था; मगर इसे स्वतन्त्रता कहिए, या मिथ्या अभिमान—मैंने अपनी दशा को किसी पर प्रकट नहीं होने दिया। अन्दर बैठकर चाहे घण्टों रोता रहूँ; मगर जब बाहर निकलता, तो हँसता हुआ निकलता—ऐसा कि किसी को शक भी न हो सके। भाग्यवश मेरी पत्नी भी मेरे ही जैसे विचार की हैं; बल्कि मुझ से भी दो पग आगे—साहस, दृढ़ता तथा धैर्य-सन्तोष की जीती-जागती तसवीर। मैं घर में बैठकर रो लेता हूँ, वह घर में भी नहीं रोतीं। मैंने अँधेरे से अँधेरे समय में भी उनके चेहरे पर मुस्कराहट की रोशनी देखी है। उस मुस्कराहट ने मेरे निराश जीवन के कण्टकाकीर्ण मार्ग को पुष्पमय बना दिया है। मैं घबड़ाता हूँ, वह मुझे सँभाल लेती हैं। मुझे अक्सर ख़याल आता है, कि मुझे अगर कोई गहनों और कपड़ों की शौक़ीन स्त्री मिल जाती, तो क्या होता? ज़िन्दगी दूभर हो जाती। बाहर भी रोता, घर में भी रोता; लेकिन परमात्मा बड़ा कारसाज़ है। उसने हर बीमारी के साथ उसकी

दवा भी पैदा कर दी है। मुझे लिखने की बीमारी दी, तो साथ ही दवा भी दे दी।

एक बार ऐसा संयोग हुआ कि हमें तीन दिन उपवास करने पड़े। मैं बिलकुल ही छूछा हो गया था, यह बात न थी। पुस्तक-प्रकाशकों पर कई सौ रुपये निकलते थे, लेकिन वे कम्बख़्त देते न थे। कोई कहता—आज कुछ आया ही नहीं; कोई कहता आज ख़र्च हो गया है। मैंने उनकी मिन्नतें कीं, धमकियाँ दीं, लड़ाई-झगड़ा किया, कहा—यह तुम्हारा बेहद ज़ुल्म है; सारी रक़म एक साथ नहीं दे सकते, तो थोड़ा-थोड़ा करके दे दो। तुम्हें भी तकलीफ़ न हो, मेरा भी काम चल जाय; लेकिन जनाब कौन सुनता है। कहते—जनाब, कुछ दिनों की मुहलत दीजिए, पाई-पाई अदा कर देंगे। आख़िर दुकानदार हैं, चोर तो नहीं हैं कि आपके रुपये लेकर भाग जायँगे। एक दुकानदार ने यहाँ तक ज़ुल्म ढाया कि हमारी आँखों के सामने चालीस रुपये में पत्नी के लिए बनारसी लहँगा ख़रीद लिया। कोई सफ़री एजेण्ट आ गया था। सस्ता देता था। ये महाशय मचल पड़े। हमने कुछ माँगा तो कैश-बक्स उलटकर दिखा दिया कि देख लीजिए, सब मिलाकर सवा तेरह आने बाक़ी हैं। फिर मुस्कराकर यह भी कह दिया कि घर में आटा न हो तो ले जाइए। उस बेचारे को क्या मालूम था कि मेरे घर में वस्तुतः आटा नहीं; बल्कि दो दिनों से पति-पत्नी उपवास कर रहे हैं। बच्चों को खिला

देते हैं, स्वयं पेट पर सब्र का पत्थर बाँधकर सो जाते हैं। हृदय ने स्वीकार न किया कि अपनी साम्प्रत दीनता की कथा सुनाऊँ। सख्त-सुस्त कहकर चला आया कि शायद कोई दूसरा दाता दे दे; लेकिन पता नहीं कि उनकी थी या हमारी बदनसीबी, किसी ने एक पैसा भी न दिया। मैं जैसा गया था वैसा ही लौट आया; बल्कि उससे भी बुरा। उम्मेद लेकर गया था, लाचारी लेकर वापस आया।

अब हालत यह थी कि घर जाने को जी न चाहता था। सोचता था पत्नी पूछेगी—कुछ मिला, तो क्या कहूँगा। नेक-बख्त ने सुबह के वक्त कहा था—आज तो सिर में चक्कर आते हैं। कुछ ज़रूर लाओ। और आज बच्चों के लिए भी कुछ नहीं है। मैंने उन्हें विश्वास दिलाया था कि आज अवश्य लाऊँगा। जाकर धरना देकर बैठ जाऊँगा। कहूँगा—बाबा, मेरी रकम दो, तो जाऊँ; वरना यहीं बैठा रहूँगा। धन्नासेठ नहीं हूँ कि तीन-तीन महीने हिसाब ही न करूँ। सब खाना-पीना इसी में होता है। देखता हूँ, कैसे नहीं देते; और अब किसी ने कुछ न दिया था।

मैं धीरे-धीरे मकान की दूसरी छत पर गया। जैसे विद्यार्थी परीक्षा में अनुत्तीर्ण होकर घर आता है, तो उसके पाँव नहीं उठते, बच्चा कोई क़सूर कर बैठे, तो घर आते डरता है। नीचे गली में दरवाज़े के बाहर बच्चे खेल रहे थे। मैं उनसे आँखें चुराकर ऊपर गया, और एक चारपाई पर

लेटकर अपने जीवन के उस चिन्ताजनक पहलू पर आँसू बहाने लगा।

श्रीमतीजी ऊपर थीं। मेरे पाँव की आवाज़ सुनकर नीचे चली आईं और बिजली का बटन दबाते हुए बोलीं—बिजली क्यों नहीं जलाई? मैंने उनकी तरफ़ बेशर्मी की निगाहों से देखा और गरदन झुका ली। ग़रीबी में आदमी किसी से आँखें मिलाते हुए भी शरमाता है।

वह सब कुछ समझ गईं; लेकिन उनके चेहरे पर अब भी वही चिन्ता छाई थी। वे मेरे पास आकर चारपाई पर बैठ गईं और बोलीं—जी छोटा क्यों करते हो? आज न सही, कल सही। आख़िर कभी तो भगवान् सुनेगा। रोने से क्या होता है, समय भी नहीं कटता।

मैंने सर्द आह भरकर कहा—आज तो बच्चों के लिए भी कुछ न होगा, क्या खायेंगे?

श्रीमती—उनकी फ़िक्र न करो। वह जो साथ के मकान में पण्डित रहते हैं, उनकी स्त्री [illegible] भी सबको चावल खिला दिये। ... मज़े से [illegible]

[illegible] क्या हाल है?
[illegible] नको तो बदन को
[illegible] फिर क्या मजाल
[illegible] किसी का काम
[illegible] बद होंगे। मैं घर

मैं भी हँसती रही हूँ। शायद आप विश्वास न करें, मैं भ
गाती रही हूँ। कई औरतें आ गई थीं, ख़ूब जलसा रहा
मगर मेरा ध्यान उधर न था। श्रीमती ने मेरा कन्धा
झँझोड़कर कहा—यह आप क्या सोच रहे हैं इस समय?

मैं—सोचता हूँ, कल क्या होगा।

श्रीमती—जो कल होना है, वह कल देखा जायगा। इस
समय सोचने की आवश्यकता नहीं।

मैं—प्रेसवाले का बिल देना है। उसका आदमी आज
नहीं आया?

श्रीमती मेरी आँखों में आँखें डालकर मुस्कराईं और
बोलीं—आया था, मैंने कह दिया—कुछ दिन सब्र करो। जब
रुपये हाथ में आयेंगे, भेज देंगे।

मैं—और मालिक मकान?

श्रीमती—(इतमीनान से) वह तो नहीं आया और आयेगा,
तो कह दूँगी, अगले महीने में दे दूँगी। इस महीने नहीं है,
क्या करोगे? हमारे वी० पी० भी तो वसूल होकर आनेवाले
हैं। कितने रुपये के होंगे? होंगे पचास-एक के क़रीब!

मैंने दिल में हिसाब करके कहा—इससे ज़्यादा के होंगे।

श्रीमती—मेरे ख़याल में दो-तीन मनीआर्डर कल ज़रूर
जायेंगे।

मुझे जैसे सहारा मिल गया। पूछा—तुम्हें कैसे
लूम है?

श्रीमती—मेरा दिल कहता है, आयेंगे। और देख लेना, ज़रूर आयेंगे। (ताली बजाकर) आज रोज़ा है, कल ईद होगी। सेवइयाँ खायेंगे।

श्रीमती हँसती थीं; मगर मेरे चेहरे पर हँसी न थी। सोचता था, इस ग़रीब ने मेरे साथ ब्याह करके क्या सुख पाया? रोटियों को भी तरसती है। उसकी सहेलियाँ अच्छा खाती हैं, अच्छा पहनती हैं। इसे खाने को भी मयस्सर नहीं। यह दिल में क्या कहती होगी!

इतने में किसी ने नीचे से आवाज़ दी—महाशयजी!

मैं चौंक पड़ा। यह कौन है? मैं जवाब देते हुए भी इतना डरता था कि कहीं कोई क़र्ज़-ख़्वाह न निकल पड़े। शायद मालिक मकान ही आ गया हो।

श्रीमतीजी ने कहा—'बाबा जैमलसिंह हैं। बुला लो।' वही थे। मेरी जान में जान आई। उच्च स्वर से कहा—आइए।

जैमलसिंह लाहौर के सबसे बड़े रईस बाबा डङ्गासिंह साहब के पुत्र थे। लाहौर में ऐसा विद्या-प्रेमी दूसरा कम होगा। उन्हें पुस्तकावलोकन का बेहद शौक़ था, और मेरी रचनाओं के तो आशिक़ थे। मेरी एक-एक कहानी उनको ज़बानी याद थी। मेरी एक-एक किताब उनकी लाइब्रेरी में थी। मुझे उन पर पूरा-पूरा भरोसा था। वह मेरी ख़ातिर सब कुछ करने को तैयार थे। यदि उन्हें मेरी साम्प्रत दशा का ज्ञान होता, तो वे आटे की बोरियाँ, और घी के टीन भेजवा

में भी हँसती रही हूँ। शायद आप विश्वास न करें, मैं आज गाती रही हूँ। कई औरतें आ गई थीं, खूब जलसा रहा।

मगर मेरा ध्यान उधर न था। श्रीमती ने मेरा कन्धा झँझोड़कर कहा—यह आप क्या सोच रहे हैं इस समय?

मैं—सोचता हूँ, कल क्या होगा।

श्रीमती—जो कल होना है, वह कल देखा जायगा। इस समय सोचने की आवश्यकता नहीं।

मैं—प्रेसवाले का बिल देना है। उसका आदमी आज नहीं आया?

श्रीमती मेरी आँखों में आँखें डालकर मुस्कराईं और बोलीं—आया था, मैंने कह दिया—कुछ दिन सब्र करो। जब रुपये हाथ में आयेंगे, भेज देंगे।

मैं—और मालिक मकान?

श्रीमती—(इतमीनान से) वह तो नहीं आया और आवेगा, तो कह दूँगी, अगले महीने में दे दूँगी। इस महीने नहीं है, क्या करोगे? हमारे वी० पी० भी तो वसूल होकर आनेवाले हैं। कितने रुपये के होंगे? होंगे पचास-एक के करीब!

मैंने दिल में हिसाब करके कहा—इससे ज़्यादा के होंगे।

श्रीमती—मेरे ख़याल में दो-तीन मनीआर्डर कल ज़रूर आवेंगे।

मुझे जैसे सहारा मिल गया। पूछा—तुम्हें कैसे मालूम है?

श्रीमती—मेरा दिल कहता है, आयेंगे। और देख लेना, ज़रूर आयेंगे। (ताली बजाकर) आज रोज़ा है, कल ईद होगी। सेवइयाँ खायेंगे।

श्रीमती हँसती थीं; मगर मेरे चेहरे पर हँसी न थी। सोचता था, इस ग़रीब ने मेरे साथ ब्याह करके क्या सुख पाया? रोटियों को भी तरसती है। उसकी सहेलियाँ अच्छा खाती हैं, अच्छा पहनती हैं। इसे खाने को भी मयस्सर नहीं। यह दिल में क्या कहती होगी!

इतने में किसी ने नीचे से आवाज़ दी—महाशयजी!

मैं चौंक पड़ा। यह कौन है? मैं जवाब देते हुए भी इतना डरता था कि कहीं कोई क़र्ज़-ख्वाह न निकल पड़े। शायद मालिक मकान ही आ गया हो।

श्रीमतीजी ने कहा—'बाबा जैमलसिंह हैं। बुला लो।' वही थे। मेरी जान में जान आई। उच्च स्वर से कहा—आइए।

जैमलसिंह लाहौर के सबसे बड़े रईस बाबा दन्नासिंह साहब के पुत्र थे। लाहौर में [illegible] ऐसी दूसरा कम होगा। उन्हें पुस्तकावलोकन [illegible] था, और मेरी रचनाओं के तो आशिक़ [illegible] उनको ज़बानी याद [illegible] की लाइब्रेरी में थी। [illegible] मेरी ख़ातिर [illegible] मामला दशा [illegible] के दौन भेज्या

देवे; किन्तु मैं लेखक हूँ, और लेखकों में आत्मत्व की [illegible] विशेषता होती है। मैं घर में रो सकता हूँ; किन्तु किसी के सामने अपनी आवश्यकता प्रकट नहीं कर सकता था। यहाँ तक कि बाबा जैमलसिंह जैसे प्रिय मित्र के सामने भी नहीं।

श्रीमती दूसरी चारपाई पर जा बैठीं। बाबा साहब ने ऊपर आकर हम दोनों को नमस्ते की और मेरे पास चारपाई पर बैठकर कहा—आज रात को हम लोग नाटक देखने जा रहे हैं। आपको भी चलना होगा। यह लीजिए दर्जा ख़ास का टिकट। आपकी सीट बुक हो चुकी है। मैं नौ बजे मोटर लेकर आऊँगा। तैयार रहिए। आज बड़ी भीड़ है।

मैंने हैरान होकर जैमलसिंह की ओर देखा और धीरे से कहा—बाबा साहब, मैं आज तो न जा सकूँगा।

बाबा साहब ने पहले कोट की जेब से चार और टिकट निकालकर मेरे सामने चारपाई पर फैला दिये, फिर मेरे हाथ दियासलाई की डिबिया दे दी। फिर पतलून की दोनों जेबों में हाथ डालकर खड़े हो गये और बोले—अगर न चाहें, तो इन्हें जला दीजिए!

मैं व्यग्रता में था। रुखाई से बोला—बाबा साहब! यह आपकी सरासर ज़्यादती है। अगर आज मैं न जा सकूँ तो क्या करूँ। इतने और आदमी हैं उन्हें ले जाइए।

जैमलसिंह—'मगर महाशयजी, आपके बिना नाटक देखने का शौक़ मज़ा आयेगा! आप न आयेंगे तो डाक्टर चौधरी,

भटनागर कोई भी न जायगा। यह समझ लीजिए।' यह कहकर जैमलसिंह ने अपनी कलाई पर से वक्त देखा और कमरे में टहलने लगे। श्रीमती ने मेरी तरफ़ देखकर इशारे से कहा—बाबा साहब आस लेकर आये हैं, चले जाओ। मैंने निगाहों में जवाब दिया—मैं आदमी हूँ, कसाई नहीं हूँ कि तुम यहाँ फ़ाक़ा करो, मैं नाटक देखता फिरूँ।

बाबा साहब मेरे सामने आकर खड़े हो गये और बोले—कहिए, आपने क्या फ़ैसला किया ? (श्रीमती की तरफ़ इशारा करके) क्या इनका ख़ौफ़ है ! इनसे मैं इजाज़त लिये देता हूँ।

श्रीमती ने जल्दी से कहा—मेरी तरफ़ से कोई एतराज़ नहीं है, बड़े शौक़ से जायँ, बल्कि मैं तो ख़ुद कहने जा रही थी कि आप जाइए, ज़रा मनबहलाव हो जायगा !

जैमलसिंह ने प्रसन्नता प्रकट की—तो फिर यह कैसे न जायँगे ! इनको ज़रूर आना होगा, वरना कोई भी न जायगा। लीजिए महाशयजी, सब टिकट आप ही के पास रहेंगे। मैं सब लोगों को लेकर नौ बजे आ जाऊँगा। नमस्ते।

मैं मुँह देखता ही रह गया। जैमलसिंह खट-खट करते हुए नीचे उतर गये मैंने टिकट उठाये और उनके पीछे भागा, लेकिन अभी दरवाज़े में ही था कि उनकी मोटर चली गई। मैं चिल्लाता ही रह गया जैमलसिंह ने मोटर से गर्दन निकालकर कहा—नौ बजे आऊँगा, नौ बजे। तैयार रहना। ऊपर आया, तो पत्नी महाशया ने हँसकर कहा—

चले जाओ। अब क्या हरज है, ज़रा दिल बहल जायगा। यहाँ रहकर भी क्या करते! वहाँ और न होगा, ज़रा हँस-खेल तो आओगे। यही ग़नीमत है।

मैं—मैं वहाँ तमाशा देखूँगा, तुम यहाँ बैठकर रोओगी, क्यों?

श्रीमती—वाह, रोने की क्या ज़रूरत है! बैठकर बाजा बजाऊँगी मज़े से। जब नींद आयेगी, सो जाऊँगी।

मैं—मैं न जाऊँगा। यह जैमलसिंह की सरासर ज़्यादती है। यहाँ तीन दिन से फ़ाक़े कर रहे हैं, उन्हें नाटक की सूझ रही है।

श्रीमती—उस बेचारे को क्या मालूम कि यहाँ यह दशा है। वह तो समझता है, महाशयजी को किसी चीज़ की परवा नहीं है।

मैं—होगा। साफ़ कह दूँगा। आज मैं नहीं जा सकता।

लेकिन जैमलसिंह ज़बरन घसीटकर ले गये। प्रेम की आज्ञाओं की अवहेलना किसने की है! चुपचाप मोटर में बैठ गया। साढ़े नौ बजे दर्जा ख़ास में बैठा नाटक देख रहा था। किसे ख़याल हो सकता था कि यह आदमी, जो मोटर में बैठकर आया है, सात रुपये के दर्जे में बैठा है, और जिसके लिए बाहर मोटर खड़ी है, तीन दिनों का भूखा होगा! मैं चित्र के उन दो पात्रों को देखता था, और कभी हँसता था, कभी रोता था; मगर मित्रों में से किसी को भी ज्ञात न था, कि इसके दिल पर क्या कुछ बीतती है!

बारह बजे पहला अङ्क समाप्त हुआ। हम लोग बातें करने लगे।

जैमलसिंह—अजब चीज़ है; न देखते तो अफ़सोस रहता। क्यों महाशयजी ?

मैं—बेशक, नाटक बहुत बढ़िया है। सीन-सीनरी भी दर्शनीय हैं!

डाक्टर साहब—ड्रामे का प्लाट भी निहायत उम्दा है। विलायत में लोग सीन-सीनरी नहीं देखते। प्लाट और ऐक्टिङ्ग देखते हैं।

चौधरी—हमको सीनरी चाहिए, आप प्लाट देखिए, क्यों भटनागर!

भटनागर—(ज़ोर से हँसकर) हमको सब कुछ पसन्द है। मास्टर मोहन कमाल का ऐक्टर है।

मैं—क्या कहना, यह आदमी यूरोप में होता, तो सोने के महल खड़े कर लेता।

एकाएक जैमलसिंह ने मेरी ओर देखकर कहा—क्यों महाशयजी कुछ खाओगे ? मेरे पेट में तो चूहे दौड़ने लगे!

मैं—भूख तो मुझे भी लगी है।

जैमलसिंह—तो आइए, बाहर चलें; देखें क्या मिल सकता है। अगर गरम-गरम पूरियाँ मिल जायँ, तो मज़ा आ जाय!

हम दोनों बाहर आये। पूरियाँ बन रही थीं। मगर खरीददार इतने थे कि मुझे निराशा सी हो गई। जैमलसिंह

ने भीड़ में घुसकर हलवाई से कहा—यार, तुम हमें अन्दर पूरियाँ नहीं भिजवा सकते ?

हलवाई ने पूरियों का दोना एक आदमी के हाथ पर रखा और दूसरे हाथ से पैसे गिनकर कहा—'बाबूजी, यहाँ मिल जायँ, तब भी ग़नीमत समझिए। वहाँ कौन भेज सकता है।' यह कहकर पैसे बर्तन में डाल लिये।

जैमलसिंह को तैश आ गया। बोले—फ़ी पूरी एक आना दूँगा, दर्जा ख़ास में भेजो।

हलवाई को आश्चर्य हुआ।

जैमलसिंह—हाँ-हाँ, एक आना फ़ी पूरी। यह लो पाँच का नोट। बाक़ी लौटा देना।

हलवाई ने नोट लेकर व्यापारिक ढंग से कहा—आप चलिए, आपको वहाँ पूरियाँ मिलेंगी।

जैमलसिंह—मगर उस्ताद, गरम-गरम मिलें।

हलवाई—जो ज़रा भी ठण्डी हो, उसके दाम काट लेना बाबू साहब।

इधर खेल शुरू हुआ, उधर हम लोगों को गरम-गरम पूरियाँ मिलने लगीं। मैंने बढ़-बढ़कर हाथ मारे। उस समय उन पूरियों का स्वाद ही और था!

पूरियों के बाद मिठाई आई। लड्डू बहुत उम्दा बने थे। जैमलसिंह ने एक लड्डू उठाकर मुझे दिया और कहा—महाशयजी, यह लड्डू खाइए; बहुत स्वादिष्ट है!

मैंने खाकर देखा, वस्तुतः स्वादिष्ट था; मगर मेरे कलेजे में जैसे किसी ने मुक्का मार दिया। मैं यहाँ इस तरह मिठाइयाँ खा रहा था, वहाँ घर में मेरी स्त्री भूखी सो रही थी। कदाचित् वह भी इस समय यहाँ होती—मैं सोचने लगा।

जब मैं तीन बजे घर पहुँचा तो मेरे पाँव ज़मीन पर न पड़ते थे। श्रीमती ने पूछा—नाटक कैसा था?

मैंने कोट उतारते हुए कहा—अच्छा किया, जो मुझे भेज दिया। खूब पूरियाँ और मिठाइयाँ खाईं।

श्रीमती—अकेले ही अकेले खा आये। मेरे लिए क्यों नहीं लाये?

मैं—(मुस्कराकर) चुरा लाता! तो लो भई तुम भी क्या याद करोगी!

यह कहकर मैंने जेब में हाथ डाला और दो लड्डू निकालकर श्रीमतीजी के हाथ में रख दिये।

श्रीमती ने लड्डू मुँह में डाल लिया और कहा—चोर!

मैंने बिस्तर पर लेटकर जवाब दिया—धन्यवाद है; मैं चोर हूँ, वरना मैं आदमी न होता, शैतान होता।

मेरी पत्नी ने मुस्कराकर मेरी तरफ़ देखा और दूसरा लड्डू भी मुँह में डाल लिया।

—सुदर्शन

---

(१८) सिक्खों का उदय और अस्त

बनैले पशु उस समय तक वाटिका को हानि पहुँचा सकते हैं, जब तक उसके मालिक या रखवाले को पता न चल जाय। मालूम हो जाने पर वह न सिर्फ़ पशु को बाहर निकालकर अपने बाग़ को बरबाद होने से बचावेगा बल्कि मवेशी को स भी देगा। इस विश्ववाटिका का माली सर्वान्तर्यामी है। उस उपवन और फूलों को आप हानि नहीं पहुँचा सकते हैं, क्योंकि वह फ़ौरन् आपको पकड़ लेगा, स्वयं प्रकट न होते हुए भी वह आपको उचित दण्ड देगा। अगर विश्वास न हो तो संसार का इतिहास पढ़िए। जब, जहाँ कहीं, जिस किसी ने धींगा-धींगी की उस पर मालिक का कोप हुआ, उस जगदीश्वर का कोई नौकर अन्याय मिटाने के लिए प्रकट हुआ। ऐसा ही एक अवसर उपस्थित हुआ था जब महात्मा नानकजी ने अवतार लिया।

सिकन्दर लोदी का हाल आपने पढ़ा है। उसने कितने बड़े-बड़े अत्याचार किये थे यह भी आपने देखा है। उसके अन्यायों से हिन्दू-जाति जब काँप रही थी, लाहौर के पास तिलौड़ी गाँव में कालूराम खत्री के घर, सिक्ख पंथ के संस्थापक, हिन्दू-जाति के पुनरुद्धारक महात्मा नानक पैदा हुए।

बड़े होने पर ख़ुद नानकजी को इस अन्यायी बादशाह का शिकार होना पड़ा। दिल्ली जाने पर कई साधुओं के

साथ महात्माजी गिरफ़्तार हुए, लेकिन बाद में बादशाह ने कुछ सोचकर इन लोगों को छोड़ दिया। जिस अन्याय को मिटाने के लिए गुरु पैदा हुए थे उसका अनुभव आपने स्वयं कर लिया। आप अगर चाहते तो अपने सत्य और धर्म के बल से हिन्दू-जाति को खड़ा कर देते। लेकिन आप समझते थे कि हिन्दू और मुसलमान दोनों परम पिता की सन्तान हैं। भाई-भाई की लड़ाई से न तो संसार का लाभ हो सकता है और न जगत्पिता प्रसन्न रह सकता है।

आपने प्रेम का रास्ता लिया। आपने चाहा कि दोनों जातियों को बतला दें कि दोनों का ईश्वर एक है, जो भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। उसी एक मालिक की सेवा करना, आपस में मिल-जुलकर रहना दोनों का कर्तव्य है। महात्माजी को आशा थी कि उनका उद्योग सफल होगा। लेकिन गुरु को समझ लेना चाहिए था कि सिद्धान्त की दृष्टि से मेल बहुत अच्छी चीज़ है, लेकिन व्यवहार में देखा जाता है कि कमज़ोर और ताक़तवर की दोस्ती पहले तो होती नहीं, अगर होती भी है तो बहुत दिन तक नहीं टिकती। ऐसी दशा में व्यक्तिगत मैत्री कहीं हो भी जाय, लेकिन निर्बल और सबल जातियों का मिलकर एक होना असाध्य है। संसार के इतिहास इस बात के साक्षी हैं।

कठिनाइयाँ उठाते हुए महात्माजी हताश नहीं हुए। दूसरे गुरु अङ्गद, तीसरे अमरदास, चौथे रामदास ने शान्ति से धर्मो-

पदेश किया। समय-समय पर विघ्न पड़ते रहे लेकिन वे ऐसे नहीं थे जिनसे कोई विशेष कष्ट हो। पाँचवें गुरु अर्जुनदेव के समय से फिर आपदाओं का श्रीगणेश हुआ। आप देख चुके हैं कि सिकन्दर लोदी के समय में गुरु नानकजी ने अवतार लिया था। सिकन्दर का बेटा इब्राहीम लोदी नाम-मात्र का बादशाह था। उसके राज्य में हिन्दुओं पर कोई अत्याचार नहीं किया गया। बाबर और हुमायूँ ने भी हिन्दुओं पर अन्याय नहीं किया। अकबर का तो कुछ पूछना ही नहीं है। इस दूरदर्शी बादशाह ने अपने समय के गुरुओं का बड़ा सत्कार किया। इसलिए सिक्ख लोग गुरु नानकदेव की शान्ति और प्रेम-शिक्षा के अनुकूल काम करते रहे।

गुरु अर्जुनदेव के समय में जहाँगीर बादशाह था। उसमें न तो अकबर की दूरन्देशी थी और न बादशाहत पर अच्छी तरह से क़ाबू था। इसलिए दिल का अच्छा होते हुए भी उसके समय में अक्सर ऐसी धींगा-धींगी हो जाती थी, जिसका बादशाह को कुछ भी पता न रहता था। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि लोग बादशाह को धोखा देकर उससे अन्याय करा देते थे। गुरु अर्जुनदेव के सम्बन्ध में भी ऐसी ही एक घटना हुई। बादशाही सेना में चण्डूशाह नाम का एक आदमी था। वह गुरुजी के पुत्र से अपनी लड़की ब्याहना चाहता था। लेकिन अर्जुनदेवजी कब एक अन्यायी की पुत्री को अपने घर में ला सकते थे! नाराज़ होकर चण्डू ने

बादशाह को बहकाकर गुरु पर दो लाख रुपये जुर्माना कराये। बाद में इसी नीच ने ज़मानत पर उनको छुड़ा लिया और छुड़ाकर अपने घर लाया। उसने समझा कि अब गुरुजी अहसानों से दबकर और अन्याय से डरकर उसका सम्बन्ध स्वीकार कर लेंगे। लेकिन गुरुजी टस से मस न हुए। नराधम चण्डू ने बड़ी दुर्दशा से आपका प्राण लिया। सिक्खों के अभ्युदय में गुरु अर्जुनदेव का पहला बलिदान हुआ। गुरु नानक का लगाया हुआ जो कोमल वृक्ष धीरे-धीरे बढ़ रहा था, गुरु अर्जुनदेव के रक्त से सिञ्चित होकर, महात्मा के पाक ख़ून की खाद पाकर, एकदम लहलहा उठा। सिक्ख-समाज शोक, चिन्ता और क्रोध से अचानक उठ बैठा। उसने समझ लिया कि धर्म का चक्र निवृत्ति के चलाये नहीं चल सकता। उसके ठीक-ठीक परिचालित करने के लिए गीता में बतलाये हुए भगवान् के प्रवृत्ति-मार्ग पर पदार्पण करना पड़ेगा।

पिता के मरने पर हरगोविन्दजी ११ वर्ष की अवस्था में छठे गुरु हुए। आपने अपनी कमर में दो तलवारें बाँधीं। पूछने पर आप जवाब देते थे कि एक तलवार पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए है और दूसरी मुसलमानी राज्य की जड़ काटने के लिए है।

इस नौजवान गुरु ने सिक्खों में नई जान डाल दी। आप न सिर्फ़ बहादुर थे बल्कि दूरंदेश भी थे। जहाँगीर बाद-

हरकिशनदेव के बाद तेग़बहादुरजी नवें गुरु हुए। नाम के अनुकूल गुण भी आपमें थे। जहाँ आपमें दया, शान्ति और ईश्वर-भक्ति थी वहाँ इन अमूल्य रत्नों की रक्षा के लिए आप में साहस, वीरता और निर्भीकता भी थी। सिक्ख-इतिहास में आपका बड़ा भारी महत्त्व है। गुरु गोविन्द-सिंहजी के पिता होने के कारण आपका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। आपने न सिर्फ़ ऐसा अपूर्व रत्न जन्माया बल्कि उसको अपने उद्देश्य के अनुकूल तैयार भी किया। आप जानते हैं कि रामराय को औरङ्गज़ेब ने अपने दरबार में रोक लिया था। सिक्ख-जाति के उस विभीषण से काम लेने का अवसर अब आया। जैसे भक्तिपूर्ण कुटिल शब्दों से रामचन्द्रजी को समझाकर विभीषण झटपट समुद्र का पुल बँधवाकर उनको लड़ाई के लिए चढ़ा ले गया वैसे ही रामराय ने औरङ्गज़ेब के कान भर-भरकर उसको गुरु तेगबहादुर को सताने के लिए उद्यत कर दिया।

गुरुजी बहुत दिनों तक टालते रहे, लेकिन अन्त में बलि-दान की घड़ी आ गई। गुरु अर्जुनदेव के रक्त का सींचा हुआ सिक्ख-समाज का वृक्ष अब मुरझाया जा रहा था। आवश्यकता थी कि वह फिर सींचा जाय और अच्छी तरह सींचा जाय। गुरु तेगबहादुर से बढ़कर और कौन इस काम के लिए उपयुक्त था? औरङ्गज़ेब ने गुरुजी को अपने दरबार में बुलाया। चलते वक्त आपको सब भेद मालूम हो गया था।

आपने अपनी तलवार पुत्र गोविन्दसिंह को देकर विदाई ली और बलिदान का सब हाल उससे कह दिया। आपने पुत्र को यह भी समझा दिया कि जो बेटा बाप का बदला न ले वह बेटा नहीं है।

'शरीर नश्वर है', 'आत्मा अमर है' इन पवित्र भावों को लेकर गुरुजी औरङ्गज़ेबी दरबार में पहुँचे। जिसने बेरहमी से बाप को क़ैद कर लिया था, भाइयों को क़त्ल कराते हुए जिसके दिल में भूलकर भी दया नहीं आई थी, उसी निष्ठुर के सामने गुरु तेग़बहादुर निःशस्त्र जा रहे हैं। चलते वक़ तलवार आप गोविन्दसिंह को दे आये थे लेकिन धर्म की तल-वार आपकी कमर ही में नहीं सर्वाङ्ग में लटक रही थी।

दरबार में पहुँचने पर बादशाही आज्ञा हुई "इसलाम या मौत"; गुरुजी ने मौत को लिया। पाप, कपट, दग़ाबाज़ी और स्वार्थ के मत-परिवर्तन से आपने मृत्यु को हज़ार गुना अच्छा समझा। जल्लाद तलवार लेकर आ गया। आनन्द से गुरु ने अपना मस्तक आगे कर दिया। जिस काम से मरी हुई आर्य-जाति जीवित हो; वशिष्ठ, अङ्गिरा और भृगु के वेद-मन्दिर का जिससे पुनरुद्धार हो; मनु, दिलीप और दशरथ, कृष्ण और भीष्म के धर्म-मार्ग की जिससे रक्षा हो; गो-ब्राह्मण का जिससे त्राण हो; आर्य धर्म को जो सजीव रख सके उस काम के लिए गुरु तेग़बहादुर जन्म-जन्म अपना मस्तक देने को तैयार थे।

जल्लाद ने तलवार गिरा दी; सर धड़ से अलग हो गया। गुरुजी के गले में जो कागज़ का टुकड़ा बँधा था उस पर लिखा था "सर दिया पर सार न दिया"।

पिता की मृत्यु का समाचार पाकर बालक गोविन्दसिंह बहुत दुखी हुए। लेकिन इनका दुःख ऐसा नहीं था कि बैठकर रोते। वहाँ तो खेद के साथ-साथ क्रोध और दण्ड देने की अभिलाषा का मेल था। आपने एक बार फिर बदला लेने की दृढ़ प्रतिज्ञा की। सिक्ख वीरों को इकट्ठा करके आपने अपनी इच्छा प्रकट की। सबने आपका अनुमोदन किया।

गोविन्दसिंह सिक्खों के दसवें गुरु या दसवें बादशाह हुए। आपने जो महान् व्रत अपने सामने रक्खा था उसके लिए रात-दिन मिहनत करते रहे। सबसे पहले आपने सिक्ख-धर्म के गूढ़ तत्त्वों पर विचार करते हुए उसका ज्ञान प्राप्त किया। आप जानते थे कि सिक्ख-धर्म वैदिक-हिन्दू-धर्म का अङ्ग मात्र है, इसलिए आपने शास्त्रों का भी अध्ययन किया। प्रतिवादी के भी रहस्य को जान लेना आवश्यक है, इसलिए आपने मुसलमानी धर्म-ग्रन्थों को भी देखा। सब कुछ करते हुए भी आपने सोचा कि शस्त्र के बिना शास्त्र कुछ नहीं कर सकता है। जब तक विघ्नकर्ता पशुओं से वाटिका की रक्षा करने के लिए किनारे-किनारे काँटेदार पौधे न लगाये जायँ, न तो गुलाब की कोमल कलियाँ रह जायँगी, न उनके चटकने

का आनन्द-स्वर होगा और न फूल का मनोहर सुगन्ध आपके मन और हृदय को मुग्ध करेगा।

आपने सोच लिया कि हिन्दू-जाति के नाश का मुख्य कारण यह है कि उसमें क्षात्र-धर्म नहीं रहा। देश को स्वामियों की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी सिंहों की।

शेर गोविन्दसिंह ने देश-देश के लिए सिंह सपूत पैदा करने का बीड़ा उठाया। वैसे तो गुरु अर्जुन और गुरु हरगोविन्द ने भी सिक्खों के सङ्गठित करने का काम लिया था लेकिन उस समय काल और पात्र का अभाव था। उनमें न तो गोविन्दसिंह की योग्यता और उनका पराक्रम था, और न सिक्ख लोग उस समय उतने तैयार थे जितना गुरु तेग़बहादुर की मृत्यु पर हो गये। परमात्मा जब जैसी ज़रूरत देखता है, वैसे ही पात्र उत्पन्न कर देता है। इस काम के लिए गुरु गोविन्दसिंह से बढ़कर उपयुक्त पुरुष दूसरा नहीं था।

शास्त्र पढ़कर और शस्त्र का अभ्यास करने पर भी आपने सोचा कि जब तक जातीयता और राष्ट्रीयता के भाव उत्पन्न न हों, कोई काम नहीं हो सकता है, बृहस्पति के समान विद्वान और बालि के समान बली होकर भी एक मनुष्य कुछ नहीं कर सकता है। ऐसी दशा में कोई कार्य उठाने के पहले हिन्दू जाति का सङ्गठन होना चाहिए। वैर-भाव और भेद मिटाकर ऐक्य का सञ्चार करना चाहिए। सबको एक भाव, एक भेष और एक भाषा के तिरङ्गे तागे में गूँथकर माला बनाना पड़ेगा।

समग्र हिन्दू-जाति को एक दूसरे के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होना पड़ेगा। आर्य-मात्र को आर्य आदर्शों, आर्य सभ्यता, आर्य जनता और आर्य जातीयता के लिए उठना, चलना, पड़ना और बलिदान करना पड़ेगा। गुरु गोविन्दसिंह ने सोच लिया कि जब तक यह नहीं तब तक सब बातें व्यर्थ हैं।

इन विचारों से प्रेरित होकर गुरु गोविन्दसिंहजी ने हिन्दू-जाति से भेद-भाव उठा देने का बीड़ा उठाया। आपने कहा कि चारों वर्ण बराबर हैं। आपका मतलब था कि हिन्दू-जाति के लिए उनमें से प्रत्येक आवश्यक है। उनमें से एक बिना भी हमारा काम नहीं चल सकता है। पाँच भिन्न-भिन्न जातियों के पाँच आदमी आपके पहले सिक्ख (शिष्य) हुए। उनमें फुर्तीलापन लाने के लिए केश, कङ्घा, कृपाण, कड़ा और कच्छ का प्रचार किया गया। सिक्ख लोगों की संख्या रोज़-रोज़ बढ़ने लगी। उनके लिए हथियार इकट्ठे किये गये। पहाड़ी स्थानों में दो-तीन क़िले बनवाये गये।

इधर गुरु हिन्दू-जाति के जगाने की तैयारी कर रहे थे, उधर दूरदर्शी औरङ्गज़ेब इनका मतलब समझ-समझकर इनके परास्त करने का उपाय सोच रहा था। जब तक पहाड़ी राजाओं को जीतकर गोविन्दसिंहजी ने अपना बल बहुत बढ़ा लिया। बादशाह ने सोचा कि अब चुप रहने से रोग असाध्य हो जायगा। इसलिए सिक्खों के मुक़ाबिले के लिए शाही सेना भेजी गई। कई बार सिक्खों की जीत हुई

लेकिन कहाँ विशाल मुग़ल सेना और कहाँ मुट्ठी भर सिक्ख! अन्त में पराजित होना पड़ा। गुरुजी के दुलारे चारों लड़के बड़ी निर्दयता से मारे गये। उन्होंने प्राण देना स्वीकार किया लेकिन धर्म छोड़ने पर वे राज़ी नहीं हुए। इतना होने पर भी गुरु और सिक्ख बड़ी बहादुरी से मुसलमानी सेना से समय-समय पर लड़ते रहे। औरङ्गज़ेब ने कपट करके गुरुजी को दरबार में बुलाया। लोगों ने महाराज को जाने से रोका। लेकिन वह ज़बरदस्त और पवित्र आत्मा कब भयभीत होनेवाली थी। आप औरङ्गज़ेब से मिलने के लिए चले, लेकिन अभी आप रास्ते ही में थे कि उस अन्यायी बादशाह का देहान्त हो गया। उसके कमज़ोर पुत्रों के समय में बल बढ़ाने का बड़ा अच्छा मौक़ा था। लेकिन उसके एक ही वर्ष बाद गुरु साहब का भी देहान्त हो गया।

गुरु ने जो काम छोड़ा, उसको उनके बहादुर चेले बन्दा ने पूरा किया। सिक्ख-इतिहास में इस वीर का नाम अमर रहेगा। इसने हिन्दुओं में नवीन जीवन का सञ्चार कर दिया। इसने अनेक स्थानों में मुसलमानी सेना को परास्त किया। सरहिन्द से पानीपत तक सिक्खों का अधिकार था। सन् १७१३ ई० में फ़र्रुख़सियर तख़्त पर बैठा। उसने ठान लिया कि जैसे हो वैसे सिक्खों का सर्वनाश किया जाय। हज़ारों सिक्खों का वध किया गया। बदले में बन्दा भी लूट-मार करता फिरता था। इससे बादशाह और

भी चिढ़ा। उसने लाहौर के बन्दा को परास्त करने का हुक्म दिया। बड़ी भारी तैयारी की गई। अन्त में सिक्ख पराजित हुए। बन्दा गुरु पकड़कर पिंजड़े में बन्द किया गया।

जब गुरु के साथी एक-एक करके मारे जा चुके तब बड़ी निर्दयता से ख़ुद बन्दा की हत्या की गई। उसके शरीर का मांस तपाये हुए लोहे से जला-जलाकर काटा गया। वह वीर सब बातें निर्भीकता और प्रसन्नता से सहता रहा। इस तरह धर्म के लिए अपना जीवन बितानेवाले बन्दा गुरु ने धर्म के लिए अपना जीवन अर्पण कर दिया।

बन्दा मर गया लेकिन फ़र्रुख़सियर के अत्याचार नहीं बन्द हुए। जगह-जगह सिक्खों की हत्या की जाती थी। हिन्दू लम्बे केश और दाढ़ी नहीं रखाने पाते थे। जो सिक्खों से किसी तरह का व्यवहार करता था, दण्डनीय समझा जाता था। जो सिक्खों को गिरफ़्तार करा देता था उसको इनाम मिलता था और जो किसी सिक्ख का सर काटकर ला देता था उसको और अधिक इनाम मिलता था। बहुत से सिक्ख इस ज़ुल्म के शिकार हुए। उसी समय वीर और निरपराधी बालक हक़ीक़तराय धर्म-मन्दिर में बलिदान हुआ। यह लड़का एक मौलवी के यहाँ पढ़ा करता था। मुसलमान लड़कों से हिन्दू देवी-देवताओं की निन्दा सुनकर हक़ीक़त से न रहा गया। उसने उन लोगों को मुँहतोड़ जवाब दिया। यह बात कैसे सह्य हो सकती थी! मुसल-

का यह उपयुक्त स्थान नहीं है। हम जानते हैं कि इनमें न तो राणा प्रताप का स्व-जाति-प्रेम था और न महाराज शिवाजी की स्वधर्म-भक्ति थी। लेकिन आप बड़े बहादुर सैनिक और चतुर शासक थे। आप जिस तरह अपना राज्य-प्रबन्ध कर रहे थे, अगर आपके बाद भी वैसा ही हुआ होता तो सिक्ख जाति का इतना भीषण पतन न हुआ होता।

—मन्नन द्विवेदी

(१६) बादल

बादल ! हवा पर सवार होकर तुम इतने इतरा चले। तुम धनी हो, बली हो, मानी हो, दानी हो, पर बावले हो, उतावले हो। मैं तुम्हें बचपन से देख रहा हूँ। तुम्हारी लीला ही निराली है। बड़े होने पर लोगों में समझ आती है, पर तुम अपने अल्हड़पन में ही मस्त हो। जब तुम्हारी अठखेलियों की ओर हम देखते हैं, तब तुम बड़े ही नयनाभिराम दृष्टि आते हो। शरद् की मुक्ता-धवल चाँदनी में चन्द्रमा की किरणों के झूले पर झूलते हुए तुम, हमारे नयनों में झूलने लगते हो। उषःकाल में मरीचिमाली के कर-स्पर्श से तुम्हारी आभा कैसी कमनीय प्रतीत होती है। सान्ध्य गगन में तुम्हारा पीत-लोहित वर्ण और उस पर बिखरा हुआ सुरम्य रश्मि-जाल गुफा को लौटते हुए सिंह की उपमा बन जाता है। तुम्हारा पर्वतीय विहार व्रज के गो-चारण का दृश्य उपस्थित कर देता है। वृक्षों के शिखरों पर तुम मुकुट से प्रतीत होते हो। पावस में इन्द्रचाप से अलङ्कृत तुम्हारा गात्र रसिकता से रेखाङ्कित चित्र सा जान पड़ता है। तुम्हारे मस्तक पर चमकती हुई बिजली की झलक तुम्हारे उदग्र प्रभाव को प्रकाशित करती है। परन्तु बादल ! प्रकाश-वान् सभी पदार्थ सुवर्ण नहीं होते।

जीवन-धन! तुम जीवन-वर्षा करके वसुधा में जीवन लाते हो। परन्तु, विवेक से काम कम लेते हो। तुम्हारी वर्षा का विशेष भाग मिलता है पाषाण-भूमि पर्वतों को वा जलराशि समुद्र को। बाग़-बग़ीचे, खेती-बारी पर तुम्हारी कृपा प्रायः यदा-कदा, समय-कुसमय ही होती है और ऊसर पर मूसलधार गिराने में तो तुम्हारे 'गाँठ के पूरे और आँख के अन्धे' होने में सन्देह ही नहीं रहता। जहाँ तुम स्वयं पत्थर बनकर गिरते हो, भला वहाँ क्या लाभ उठाते हो? अपने प्राण जायँ तो जायँ, पर औरों का नाश हो; यही बात है न?

घनश्याम! तुम स्वयं काला रूप धारण करते हो, पर कालों पर बिजली बनकर गिरते हो। यह कहाँ का न्याय? इस जातिद्रोह में क्या लाभ? घुमड़-घुमड़ और उमड़-उमड़कर तुम प्रलय मचाते हो। तुम्हारा अभिमान तुम्हारे बल के साथ बढ़ता है। इसमें तुम मुँह की खाकर भी लज्जित नहीं होते। जानते हो कि 'निर्धन के धन गिरधारी', फिर भी वही अकड़। बताओ तो, तुमने अपने हिमायती इन्द्र को लेकर भी ब्रज के ग्वाल-बालों का क्या कर लिया था? उस समय तुम पानी-पानी तो हो गये, पर डूबकर मरे नहीं। ध्रुव की तपस्या में ही तुमने विघ्न डालने में क्या कसर रक्खी थी? पर, वह ध्रुव ही रहा और तुम ध्रुव से ध्रुव तक दौड़ लगाकर भी अध्रुव ही रहे।

तुम्हें पता है तुम कहाँ जन्मे हो, तुम्हारा स्थान कहाँ है? इसी धरती पर। इसलिए धरती पर पाँव रखकर चलो।

(२०) महाकाव्य की दृष्टि से महाभारत की श्रेष्ठता

इस जगत् में जो चार या पाँच अत्यन्त उदात्त और रमणीय महाकाव्य हैं, उनमें व्यासजी का यह आर्ष महाकाव्य सबसे अधिक श्रेष्ठ कोटि का है। यूनानी तत्त्वज्ञ अरिस्टाटल ने होमर के इलियड के आधार पर महाकाव्य का यह लक्षण बतलाया है—"महाकाव्य का विषय एक होना चाहिए। वह विषय कोई बहुत बड़ा, अत्यन्त विस्तृत और महत्त्व का प्रसङ्ग हो। उसके प्रधान पात्र उच्च वर्ग के हों और उनका चरित्र उदात्त हो। ग्रन्थ की भाषा और वृत्त गम्भीर हो और काव्य में विविध सम्भाषण तथा वर्णन हों।" पश्चिमी विद्वानों का बतलाया हुआ महाकाव्य का यह लक्षण, हमारे यहाँ के साहित्य-शास्त्रकारों के बतलाये हुए लक्षण से कुछ अधिक भिन्न नहीं है। अब इन्हीं चार बातों के सम्बन्ध में यहाँ क्रमशः विचार किया जायगा।

हमारे महाकाव्य का प्रधान विषय भारती-युद्ध है। हिन्दुस्तान के प्राचीन इतिहास में भारती-युद्ध से बढ़कर अधिक महत्त्व की कोई दूसरी बात नहीं है। उस समय हिन्दुस्तान की प्राचीन संस्कृति शिखर तक पहुँच गई थी। उस समय के बाद ही हिन्दुस्तान की अवनति का आरम्भ होता है। यह अवनति अब तक धीरे-धीरे बढ़ती ही चली जाती है।

इसलिए हम लोगों में भारती-युद्ध ठीक कलियुग का आरम्भ समझा जाता है। सारांश, भारती-युद्ध से अधिक महत्त्व के किसी अन्य प्रसङ्ग की कल्पना कर सकना असम्भव है। भारती-युद्ध के प्रसङ्ग से बढ़कर अधिक विस्तृत और अधिक उलझन के भी किसी अन्य विषय का पाया जाना बहुत कठिन है। इस प्रसङ्ग के एक-एक छोटे से भाग पर, संस्कृत भाषा के पञ्च-महाकाव्यों में से, दो महाकाव्यों की रचना की ग
है। अर्जुन के पाशुपतास्त्र पाने की कथा पर भारवि के किराता-
र्जुनीय की रचना हुई है और माघ-काव्य शिशुपाल-वध की कथा पर रचा गया है। नैषध-काव्य भी महाभारत के अन्त-र्गत नल-दमयन्ती आख्यान पर रचा गया है। सारांश, भारती-युद्ध का प्रसङ्ग इतना विस्तृत है कि इसकी एक-एक शाखा पर एक-एक संस्कृत-महाकाव्य रचा जा सकता है। कुछ लोग कहेंगे कि महाभारत में केवल भारती-युद्ध-कथा ही नहीं, किन्तु पाण्डवों का पूरा चरित्र भी है। परन्तु यद्यपि महाभारत का प्रधान विषय भारती-युद्ध ही है, तथापि यह आकांक्षा सहज ही उत्पन्न होती है कि उसमें इस युद्ध के कारणों और परिणामों का भी वर्णन हो। इसी लिए उसमें
ाण्डवों का पूर्व-चरित्र और उत्तर-चरित्र दिया गया है।
रण रहे कि ये दोनों चरित्र बहुत संक्षेप में दिये गये हैं,
ांत् आरम्भ के आदिपर्व, सभापर्व और अन्त के आश्रम-
क आदि पर्व छोटे-छोटे हैं और बीच के उद्योगपर्व से आगे

युद्ध-सम्बन्धी जो पर्व हैं वे बहुत विस्तार-पूर्वक लिखे गये हैं। तात्पर्य यह है कि भारती-युद्ध को ही महाभारत का प्रधान विषय मानना चाहिए। यदि व्यासजी के शब्दों में कहना हो कि उनके महाकाव्य का विषय क्या है, तो कहना चाहिए कि वह नर-नारायण की जय अर्थात् श्रीकृष्ण और अर्जुन की विजय ही है। यह बात नमन के श्लोक से भली भाँति व्यक्त हो जाती है।

यद्यपि महाभारत की कथा का स्वरूप इतना विस्तृत है, तथापि उसमें एकता और पूर्णता है और असम्बद्धता बिल्कुल नहीं होने पाई है। उसमें इतने अधिक और भिन्न स्वभाव के व्यक्ति हैं कि शेक्सपियर के अनेक नाटकों में वर्णित सब व्यक्ति अकेले महाभारत ही में ग्रथित कर दिये गये हैं। महाभारत की कथा यद्यपि इतनी विस्तृत है, तो भी इसका विस्तार इससे और अधिक होने योग्य है। सच बात तो यह है कि ग्रन्थकार ने अपना ध्यान अपने प्रधान विषय अर्थात् युद्ध की ओर ही रक्खा था और इसी लिए प्रसङ्गानुसार विषयान्तर करने की ओर उन्होंने अपने ध्यान को अधिक आकर्षित नहीं होने दिया। उदाहरणार्थ, दुर्योधन के विवाह का वर्णन महाभारत में कहीं पाया नहीं जाता; यहाँ तक कि उसकी स्त्री का नाम समूचे महाभारत में कहीं नहीं है। ऐसी दशा में उसके सम्बन्ध में अधिक उल्लेख या उसके भाषण और कार्य का पता कैसे लग सकता है? यह देखकर पाठकों को कुछ अचरज होगा।

आधुनिक कवियों ने दुर्योधन की स्त्री का नाम 'भानुमती' रक्खा है और उसके सम्बन्ध में मूर्खता से भरी हुई कुछ कथाओं की रचना भी की है, क्योंकि महाभारत में दुर्योधन की स्त्री का नाम तक नहीं है। इलियड के प्रतिनायक हेक्टर की स्त्री का नाम एण्ड्रोमकी है। जिस समय हेक्टर लड़ाई के लिए बाहर जाता है, उस समय उसका स्त्री के साथ जो करुणायुक्त सम्भाषण हुआ है, उसका वर्णन इलियड में दिया गया है। परन्तु भारत के प्रतिनायक दुर्योधन की पत्नी का एक भी संवाद भारतकार ने नहीं दिया। हम समझते हैं कि इसमें ग्रन्थकार की विशेष कुशलता देख पड़ती है। इसका कारण यह है कि व्यासजी ने दुर्योधन पात्र को बहुत हठीला और मानी बतलाया है। यदि दुर्योधन के लड़ाई पर जाते समय और अपनी प्रिय पत्नी से विदा होते समय, उसके नेत्रों से आँसू की एक भी बूँद टपकने का वर्णन कवि ने किया होता, तो उससे वह मानी पात्र कलङ्कित हो जाता। सारांश, यहाँ कवि का चातुर्य ही विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। परन्तु इससे यह अनुमान करना उचित न होगा कि दुर्योधन बड़ा क्रूर या निर्दय था और अपनी स्त्री को प्यार नहीं करता था। जिस समय गदा-युद्ध में जाँघ के फट जाने से दुर्योधन समर-भूमि में विह्वल हो रहा था, उस समय महाकवि व्यासजी ने उसके विलाप में माता-पिता के स्मरण के साथ स्त्री की बात भी बड़ी चतुराई से शामिल कर दी है और उसके मुख से कहलाया है कि—"हे

लक्ष्मणमात: मेरे बिना तेरी कैसी गति होगी !'' इस विवेचन से पाठक समझ जायँगे कि महाभारत का विषय यद्यपि बहुत बड़ा है तो भी वह और अधिक विस्तृत होने योग्य है।

इस बात का एक और उदाहरण दिया जा सकता है कि यद्यपि महाभारत की कथा अत्यन्त विस्तृत है, तथापि महाकवि व्यासजी ने उसे सङ्कलित करके दूसरी ओर अपना ध्यान आकर्षित होने नहीं दिया। महाभारत का मुख्य विषय भारती-युद्ध है; इसलिए भारती-युद्ध के अतिरिक्त अन्य बातों का वर्णन खूब बढ़ाकर नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ, श्रीकृष्ण का चरित्र देखिए। श्रीकृष्ण-चरित्र का जितना भाग भारती-युद्ध के साथ संलग्न है, उतना ही महाभारत में दिया गया है। इसमें उनके बाल-चरित्र का वर्णन कहीं देख नहीं पड़ता। रुक्मिणी के विवाह की सरस कथा और श्रीकृष्ण के अन्य विवाह-सम्बन्धी वर्णन भी इसमें नहीं हैं। उनका अप्रत्यक्ष उल्लेख कहीं-कहीं सम्भाषण में पाया जाता है, परन्तु पूरा वर्णन इसमें कहीं नहीं है। सामान्य पाठकों को मालूम होता है कि यह इस ग्रन्थ की त्रुटि है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। इसमें सचमुच कवि की कुशलता है। प्रधान विषय को छोड़कर किसी अन्य विषय के वर्णन में लग जाना दोष है; इसलिए व्यासजी ने अपने भारत में श्रीकृष्ण के चरित्र को स्थान नहीं दिया। बाहर से देख पड़नेवाली इस त्रुटि की पूर्त्ति सौति ने, हरिवंश नामक खिलपर्व जोड़कर, कर दी है। इस रीति से पाठकों को

जिज्ञासा भी तृप्त हो गई है। अस्तु, महाभारत का विषय अति विस्तृत और महत्त्व का है। इसमें सन्देह नहीं कि जिस युद्ध में १८ अक्षौहिणी अर्थात् ५२ लाख वीर आपस में इतनी तीव्रता और निश्चय से लड़े थे कि एक पक्ष में सात और दूसरे पक्ष में तीन कुल मिलाकर सिर्फ़ बारह वीर ज़िन्दा बचे, वह युद्ध होमर के इलियड के युद्ध से बहुत ही बड़ा था।

पर भारती-युद्ध का महत्त्व इससे भी अधिक है। हिन्दुस्तान के वर्तमान प्रसिद्ध राज-वंश अपने-अपने वंशों की उत्पत्ति भारती-युद्ध के वीरों से ही बतलाया करते हैं। इससे इस युद्ध को राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हो गया है; अथवा कहना चाहिए कि यह महत्त्व उसे पहले से ही प्राप्त है। कौरवों की संस्कृति बहुत ऊँचे दर्जे की थी। कुरु का नाम ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय से वैदिक साहित्य में बार-बार आया है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस संस्कृति को सौति ने बढ़ा दिया होगा। इस युद्ध के साथ श्रीकृष्ण का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस कारण भी इस युद्ध को राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हुआ है; क्योंकि धर्म, नीति और तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण राष्ट्रीय महत्त्व के पुरुष थे। इनके सम्बन्ध में आगे विस्तार सहित विचार किया जायगा। जिस प्रकार ट्रोजन-युद्ध यूनानियों को राष्ट्रीय मालूम होता है, उसी प्रकार भारती-युद्ध भारतवासियों महत्त्व का मालूम होता है। सारांश, इस महा-का विषय अत्यन्त महत्त्व का, विस्तृत और राष्ट्रीय स्वरूप

का है। अब हम महाकाव्य के दूसरे आवश्यक अङ्ग का विचार करते हैं।

यह विस्तार सहित कहने की आवश्यकता नहीं है कि महाभारत में वर्णित व्यक्तियों के चरित्र अत्यन्त उदात्त हैं। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, कर्ण, द्रोण और सर्व-श्रेष्ठ भीष्म के चरित्रों से धर्म और नीति के आचरण के सम्बन्ध में यह शिक्षा मिलती है कि नीति के आचरण के सामने जीवन की भी कुछ परवा न होनी चाहिए। और इस शिक्षा को हिन्दुस्तान-निवासी आर्यों के हृदयों पर प्रतिबिम्बित करा देने में ये चरित्र आज हज़ारों वर्षों से समर्थ हो रहे हैं। श्रीकृष्ण का चरित्र तो बस अद्वितीय ही है। उसके रहस्य और महत्त्व का विस्तार सहित वर्णन आगे किया जायगा। दुर्योधन पात्र भी उदाहरण-स्वरूप है। यद्यपि उसके चरित्र का झुकाव बुरे मार्ग की ओर है, तथापि उसका अटल निश्चय, उसका मानी स्वभाव—जिसने सार्वभौमत्व और मृत्यु के बीच की किसी श्रेणी को स्पर्श तक नहीं किया—, उसका मित्र-प्रेम और उसकी राजनीति इत्यादि सब बातें यथार्थ में वर्णन करने योग्य हैं। इस सम्बन्ध में व्यास कवि ने होमर अथवा मिल्टन को भी मात कर दिया है। होमर का प्रतिनायक हेक्टर अनुकम्पनीय दशा में है। यद्यपि वह अपने देश की सेवा करने के लिए तत्पर है, तथापि जब वह अपनी प्रिय पत्नी से बिदा होता है और अपने बालक का चुम्बन करता है, उस

जिज्ञासा भी तृप्त हो गई है। अस्तु, महाभारत का विषय ब विस्तृत और महत्त्व का है। इसमें सन्देह नहीं कि जिस यु में १८ अक्षौहिणी अर्थात् ५२ लाख वीर आपस में इतनी तीव्रता और निश्चय से लड़े थे कि एक पक्ष में सात और दूसरे पक्ष में तीन कुल मिलाकर सिर्फ़ बारह वीर ज़िन्दा बचे, वह युद्ध होमर के इलियड के युद्ध से बहुत ही बड़ा था।

पर भारती-युद्ध का महत्त्व इससे भी अधिक है। हिन्दुस्तान के वर्तमान प्रसिद्ध राज-वंश अपने-अपने वंशों की उत्पत्ति भारती-युद्ध के वीरों से ही बतलाया करते हैं। इससे इस युद्ध को राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हो गया है; अथवा कहना चाहिए कि यह महत्त्व उसे पहले से ही प्राप्त है। कौरवों की संस्कृति बहुत ऊँचे दर्जे की थी। कुरु का नाम ब्राह्मण-ग्रन्थों के समय से वैदिक साहित्य में बार-बार आया है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस संस्कृति को सौति ने बढ़ा दिया होगा। इस युद्ध के साथ श्रीकृष्ण का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस कारण भी इस युद्ध को राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हुआ है; क्योंकि धर्म, नीति और तत्त्वज्ञान के सम्बन्ध में श्रीकृष्ण राष्ट्रीय महत्त्व के पुरुष थे। इनके सम्बन्ध में आगे विस्तार सहित विचार किया जायगा। जिस प्रकार ट्रोजन-युद्ध यूनानियों का राष्ट्रीय युद्ध मालूम होता है, उसी प्रकार भारती-युद्ध भारतवासियों को राष्ट्रीय महत्त्व का मालूम होता है। सारांश, इस महाकाव्य का विषय अत्यन्त महत्त्व का, विस्तृत और राष्ट्रीय स्वरू

का है। अब हम महाकाव्य के दूसरे आवश्यक अङ्ग का विचार करते हैं।

यह विस्तार सहित कहने की आवश्यकता नहीं है कि महाभारत में वर्णित व्यक्तियों के चरित्र अत्यन्त उदात्त हैं। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, कर्ण, द्रोण और सर्व-श्रेष्ठ भीष्म के चरित्रों से धर्म और नीति के आचरण के सम्बन्ध में यह शिक्षा मिलती है कि नीति के आचरण के सामने जीवन की भी कुछ परवा न होनी चाहिए। और इस शिक्षा को हिन्दुस्तान-निवासी आर्यों के हृदयों पर प्रतिबिम्बित करा देने में ये चरित्र आज हज़ारों वर्षों से समर्थ हो रहे हैं। श्रीकृष्ण का चरित्र तो बस अद्वितीय ही है। उसके रहस्य और महत्त्व का विस्तार सहित वर्णन आगे किया जायगा। दुर्योधन पात्र भी उदाहरण-स्वरूप है। यद्यपि उसके चरित्र का झुकाव बुरे मार्ग की ओर है, तथापि उसका अटल निश्चय, उसका मानी स्वभाव—जिसने सार्वभौमत्व और मृत्यु के बीच की किसी श्रेणी को स्पर्श तक नहीं किया—, उसका मित्र-प्रेम और उसकी राजनीति इत्यादि सब बातें यथार्थ में वर्णन करने योग्य हैं। इस सम्बन्ध में व्यास कवि ने होमर अथवा मिल्टन को भी मात कर दिया है। होमर का प्रतिनायक हेक्टर अनुकम्पनीय दशा में है। यद्यपि वह अपने देश की सेवा करने के लिए तत्पर है, तथापि जब वह अपनी प्रिय पत्नी से विदा होता है और अपने बालक का चुम्बन करता है, उस

मय उसके मन का धीरज टूटा हुआ देख पड़ता है। मिल्टन
ा प्रतिनायक इतना दुष्ट और शक्तिशाली दिखाया गया है कि
ाह नायक से भी अधिक तेजस्वी मालूम होता है और कभी-
कभी तो जान पड़ता है कि वही काव्य का नायक है। अस्तु;
महाभारत में वर्णित स्त्रियाँ, इलियड में वर्णित स्त्रियों की
अपेक्षा, बहुत ही ऊँचे दर्जे की हैं। हैलन द्रौपदी के नखाग्र
की भी समता नहीं कर सकती। एण्ड्रोमकी भी द्रौपदी की
समकक्ष नहीं हो सकती। कविश्रेष्ठ व्यासजी ने द्रौपदी
पात्र को सचमुच अद्वितीय बना दिया है। उसका धैर्य-सम्पन्न
और गम्भीर स्वभाव, उसका पातिव्रत्य, उसकी गृह-दक्षता
आदि सब गुण अनुपम हैं। इतना होने पर भी वह मनुष्य-
स्वभाव के परे नहीं है। वह अपने पति पर ऐसा क्रोध करती
है, जो स्त्री-जाति के लिए उचित और शोभादायक है। वह
अपने पति के साथ विवाद करती और कभी-कभी ऐसा हठ
करती है, जो पतिव्रता स्त्रियों के लिए उचित है। वह यथार्थ
में क्षत्रिय-स्त्री है। हेक्टर की पत्नी के समान वह सूत कातने
नहीं बैठती, किन्तु ऐसे धैर्य के काम करती है, जो राजपूत
स्त्रियों के योग्य हैं। कौरवों की सभा में द्यूत के प्रसङ्ग में
जब उस पर सङ्कट आ पड़ा था, तब उसके मन का धैर्य
बिलकुल नहीं डिगा। उसने सभा से ऐसा प्रश्न किया कि
. सभासदों को चुप हो जाना पड़ा। अन्त में अपने पतियों
दासत्व से मुक्त करके वह उनके साथ आनन्द से अरण्य-

वास के लिए चली गई। कुन्ती पात्र भी ऐसा ही उदात्त है। पाण्डवों का अरण्यवास पूरा हो जाने पर, जब श्रीकृष्ण विदुर के घर कुन्ती से मिलने आये उस समय, उसने उनके हाथ अपने पुत्रों को जो सन्देश भिजवाया था वह क्षत्रिय-स्त्रियों के लिए उचित ही था। विदुला-संवाद-रूप यह सन्देश अत्यन्त उद्दीपक है। इस सन्देश में उसने पाण्डवों को यह तीखा उपदेश दिया है कि क्षत्रिय-पुत्र या तो जीतकर आवें या मर जायँ, पर भिक्षा कभी न माँगें। यह उपदेश उसने स्वयं अपने लाभ के लिए नहीं दिया था; क्योंकि पाण्डवों के राज्य पाने पर वह उनके यहाँ बहुत दिनों तक नहीं रही, किन्तु धृतराष्ट्र के साथ तपश्चर्या करने के हेतु वन में चली गई। जब भीम ने कुन्ती से पूछा कि—"तूने ही तो हमें लड़ाई के लिए उद्यत किया था; और अब तू हमारे ऐश्वर्य का उपभोग न कर वन में क्यों जाती है ?" तब उसने उत्तर दिया कि—"मैंने अपने पति के समय राज्य के ऐश्वर्य का बहुत उपभोग किया है। मैंने तुम्हें जो सन्देश भेजा था वह कुछ अपने लाभ के लिए नहीं, किन्तु तुम्हारे ही हित के लिए।"

पाण्डवों के प्रति उसका अन्तिम उपदेश तो सोने के अक्षरों से लिख रखने योग्य है—

"धर्मे वो धीयतां बुद्धिर्मनो वो महदस्तु च।"

अर्थात् "तुम्हारी बुद्धि धर्माचरण पर स्थिर रहे और तुम्हारे मन सङ्कुचित न होकर विशाल हों।" यदि समस्त

महाभारत का तात्पर्य किसी एक श्लोकार्ध में कहा जाय तो यह यही है।

द्रौपदी, कुन्ती, गान्धारी, सुभद्रा, रुक्मिणी आदि महाभारत में वर्णित स्त्रियाँ उदात्त चरित्र की हैं और उनमें मनुष्य-स्वभाव की झलक भी महाकवि व्यास ने दिखा दी है। उदाहरणार्थ, सुभद्रा के विवाह के समय द्रौपदी ने अपना मत्सर-भाव एक सुन्दर वाक्य से अर्जुन पर प्रकट कर दिया—

> तत्रैव गच्छ कौन्तेय यत्र सा सात्वतात्मजा।
> सुबद्धस्यापि भारस्य पूर्वबन्धः श्लथायते॥
> (आदि० अ० २२१। ७)

अर्थात्—"किसी गट्ठे का पहला बन्धन कितना ही मज़बूत क्यों न हो, पर जब वह दूसरी बार बाँधा जाता है तब उसका पहला बन्धन कुछ न कुछ ढीला हो ही जाता है।" कर्ण के सम्बन्ध में कुन्ती का पुत्र-प्रेम युद्ध के बाद भी प्रकट हुआ है। उत्तरा ने बृहन्नला से कहा है कि रणभूमि से अच्छे-अच्छे वस्त्र मेरी गुड़ियों के लिए अवश्य ले आओ। ऐसे और भी अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं।

महाभारत में वर्णित समस्त व्यक्ति उदात्त स्वरूप के हैं। इतना ही नहीं, किन्तु उसमें कहीं-कहीं जिन देवताओं का वर्णन किया गया है उनके चरित्र भी उदात्त हैं। इस सम्बन्ध में होमर के इलियड की अपेक्षा महाभारत की कुशलता कहीं अधिक है। इलियड में वर्णित यूनानी देवताओं

का बर्ताव मनुष्य से भी बुरा है। वे परस्पर लड़ाई-झगड़ा मचाते और मारकाट भी करते हैं। उनका देवता-स्वरूप प्रायः नष्ट सा जान पड़ता है। महाभारत में देवताओं का जो वर्णन है वह ऐसा नहीं है। वे मनुष्यों के व्यवहारों में यों ही हस्तक्षेप नहीं करते; और जब हस्तक्षेप करने की आवश्यकता होती है, तो वे देवताओं के समान ही बर्ताव करते हैं। एक उदाहरण लीजिए। कर्ण के सहज-कवच को अर्जुन के लिए प्राप्त कर लेने की इच्छा से इन्द्र ने एक उपाय रचा। इन्द्र को कर्ण का यह व्रत मालूम था कि यदि कोई ब्राह्मण उससे कुछ माँगे तो वह कभी नाहीं नहीं करता था। इसलिए इन्द्र ने ब्राह्मण का रूप धारण किया और कर्ण के पास जाकर उसके कवच-कुण्डल माँगे। दानशूर कर्ण ने तुरन्त ही अपने कवच-कुण्डल उसे दे दिये। परन्तु इन्द्र किसी साधारण मनुष्य की नाईं कवच-कुण्डलों को बग़ल में दबाकर चुपचाप वहाँ से चला नहीं गया, प्रत्युत उसने देव-स्वभाव के अनुसार बर्ताव किया। सन्तुष्ट होकर उसने कर्ण से कहा—"तू अपनी इच्छा के अनुसार वर माँग।" कर्ण ने उससे अमोघ शक्ति माँगी। यद्यपि इन्द्र जानता था कि कर्ण उस अमोघ शक्ति का प्रयोग अर्जुन पर भी करेगा, तो भी उसने कर्ण को वह शक्ति दे दी। सारांश, महाभारत में वर्णित देव-चरित्र देवताओं के ही समान उदात्त हैं। इलियड की अपेक्षा महाभारत में यह विशेष गुण है।

अब इस बात का विचार किया जायगा कि कवि ने अपने पात्रों के स्वभाव का वर्णन और अपनी कथा की रचना किस प्रकार की है। स्वभाव का उद्घाटन भिन्न-भिन्न वर्णनों से और विशेषत: सम्भाषणों से हुआ करता है। इस सम्बन्ध में भी महाभारत का पद सबसे श्रेष्ठ है। महाभारत की रम-णीयता उसके सम्भाषणों में ही है। उसमें दिये हुए सम्भा-षणों के समान प्रभावशाली भाषण अन्य स्थानों में बहुत ही कम देख पड़ेंगे। उन भाषणों के द्वारा भिन्न-भिन्न पात्र उत्तम रीति से व्यक्त हो जाते हैं। ऐसे भाषणों के कुछ उदाहरण ये हैं—आदिपर्व में रङ्गभूमि में परीक्षा के समय दुर्योधन, कर्ण, अर्जुन और भीम के सम्भाषण; सभापर्व के आरम्भ में शिशुपाल और भीष्म के सम्भाषण; वनपर्व के आरम्भ में युधिष्ठिर, भीम और द्रौपदी के सम्भाषण और द्रोणपर्व में धृष्टद्युम्न, सात्यकि, अर्जुन और युधिष्ठिर के सम्भाषण। कौरव-सभा में श्रीकृष्ण का जो सम्भाषण हुआ वह तो सबमें शिरोमणि है। कर्णपर्व में कर्ण के रथ पर हमला करने के समय अर्जुन के साथ श्रीकृष्ण ने जो उत्साह-जनक भाषण किया है वह भी ऐसा ही है। ये तथा अन्य भाषण भारतकार के उत्तम कवित्व के साक्षी हैं। भारत में वर्णित व्यक्तियों के भाषण में विशेषता यह है कि वे ज़ोरदार और निर्भय हैं। उदाहरणार्थ, दुर्योधन को उपदेश देते समय विदुर उसकी तीखी निर्भर्त्सना करने में कुछ भी आगा-पीछा नहीं करता। कहा जा सकता है कि विदुर के लिए

उसके जेठेपन की स्थिति अनुकूल थी। परन्तु शकुन्तला को तो यह भी आधार न था। इतना होने पर भी उसका दुष्यन्त से राज-सभा में भाषण निर्भय है और एक सदाचार-सम्पन्न, सद्गुणी, आश्रमवासी कन्या के लिए शोभादायक है। कालिदास की शकुन्तला में और व्यास की शकुन्तला में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। जब दुष्यन्त ने शकुन्तला को भरी राज-सभा में यह कहा कि—"मैंने तो तुझे पहले कभी देखा ही नहीं; फिर तेरे साथ विवाह करने की बात कैसे हो सकती है?" उस समय कालिदास की शकुन्तला के समान वह मूर्च्छित नहीं होती, किन्तु यह कहती हुई सभास्थल से बाहर जाने लगती है—"जब कि तुम सत्य का ही आदर नहीं करते, तब मैं तुम्हारा सहवास भी नहीं चाहती। सत्य पति और पुत्र से भी अधिक मूल्यवान् है।"

कर्णपर्व में शल्य और कर्ण का जो सम्भाषण है वह भी इसी प्रकार तेज़ और ज़ोरदार है। इसी में हंसकाकीय नामक एक कथा है जो बहुत ही चित्ताकर्षक है। नीति के तत्त्वों को हृदयङ्गम करा देने के लिए बतलाई हुई पशु-पक्षियों की कथाओं का यह सबसे प्राचीन और सुन्दर उदाहरण है। अर्थात् यह नहीं समझना चाहिए कि इस पद्धति को ईसाप ने ही जारी किया है; किन्तु यह ईसाप से भी अधिक प्राचीन है और व्यासजी के काव्य में इस प्रकार की जो दो-तीन कथाएँ हैं वे उदाहरण-स्वरूप मानी जा सकती हैं। व्यासजी ने अपने

काव्य में जो अनेक सम्भाषण दिये हैं उनसे पाठकों के मन पर नीति-तत्त्व का उपदेश भली भाँति प्रतिबिम्बित हो जाता है; और सत्यवादित्व, ऋजुता, स्वकार्य-दक्षता, आत्मनिग्रह, उचित अभिमान, औदार्य इत्यादि सद्गुणों का पोषण होता है। महाभारत में आत्मगत भाषण नहीं है। पश्चिमी ग्रन्थों में आत्मगत भाषण एक महत्त्व का भाग होता है और उसे वक्तृत्वपूर्ण बनाने के लिए उन ग्रन्थकारों का प्रयत्न भी हुआ करता है। हमारे यहाँ के ग्रन्थों में प्रायः ऐसे भाषण नहीं हैं। यदि वास्तविक स्थिति का विचार किया जाय तो मानना पड़ेगा कि आत्मगत भाषण कभी कोई नहीं करता, सिर्फ़ चिन्तन किया करता है; और इस चिन्तन में शब्दों अथवा अन्य बातों का विशेष विचार नहीं किया जाता। अस्तु, यह प्रश्न ही निराला है।

महाभारत की वर्णन-शैली ऊँचे दर्जे की है। उसमें दिये हुए वर्णन होमर अथवा मिल्टन से किसी प्रकार शक्ति में कम नहीं हैं। वर्णन करते समय किसी प्रकार की गड़बड़ी नहीं देख पड़ती; शब्द सरल और ज़ोरदार होते हैं, तथा दृश्यों के वर्णन, और स्त्री-पुरुषों के स्वरूप, स्वभाव एवं पहनावे के वर्णन हूबहू और मनोहर होते हैं। प्रत्यक्ष युद्ध का जो वर्णन व्यासजी ने किया है वह तो बहुत ही सरस है, यहाँ तक कि वह अ-द्वितीय भी कहा जा सकता है। हाँ, यह बात सच है कि कहीं-कहीं किसी एक ही प्रसङ्ग के बार-बार आ जाने से पाठकों

का मन ऊब जाता है; परन्तु स्मरण रहे कि ये प्रसङ्ग सौति के जोड़े हुए हैं। इसके सिवा एक और बात है। जिस समय लड़ाई के प्रधान शस्त्र धनुष-बाण ही थे और जिस समय रथियों में प्रायः द्वन्द्व-युद्ध हुआ करते थे, उस समय के युद्ध-प्रसङ्ग की कल्पना हम लोगों को अब इस समय अपने मन में करनी चाहिए। इधर सैकड़ों वर्षों से रथ-युद्ध और गज-युद्ध का अस्तित्व नष्ट हो गया है, इसलिए आज हम लोग इस बात की ठीक-ठीक कल्पना नहीं कर सकते कि उन युद्धों में कैसी निपुणता और शूरता आवश्यक थी। परिणाम यह होता है कि व्यास-कृत युद्ध-वर्णन कभी-कभी काल्पनिक मालूम होता है। ऐसे युद्धों में भी जो सैकड़ों भिन्न प्रसङ्ग उपस्थित हुआ करते हैं, उन सबका वर्णन सूक्ष्मता से और वक्तृत्व के साथ किया गया है। महाभारत के युद्ध-प्रसङ्गों की कथाओं को सुनकर वीररस उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। यह बात प्रसिद्ध है कि महाभारत के श्रवण से ही शिवाजी के समान वीरों के हृदय में शूरता की स्फूर्ति हुई थी।

सृष्टि-सौन्दर्य के वर्णन महाभारत में बहुत नहीं हैं। इतना होने पर भी महाभारत का दर्जा अन्य काव्यों से श्रेष्ठ ही है, क्योंकि इसमें दिये हुए वर्णन प्रत्यक्ष देखनेवालों के हैं। वन-पर्व में हिमालय का जो वर्णन है वह उसी के मुख से हो सकता है जो उस हिमाच्छादित ऊँचे प्रदेश में स्वयं रहता हो। जिस प्रकार के बवण्डर में द्रौपदी और पाण्डव फँस

गये थे वैसे बवण्डर हिमालय ही में आया करते हैं। उ
बवण्डर का वर्णन वैसा ही सरस और वास्तविक है जैस
कि उस प्रदेश में रहनेवाला कोई कवि कर सकता है। गन्ध
मादन पर्वत का वर्णन अतिशयोक्ति-पूर्ण होने के कार
कुछ काल्पनिक मालूम होगा; परन्तु सच बात तो यह है कि
गन्धमादन पर्वत भी मेरु पर्वत के समान कुछ-कुछ काल्पनिक
ही है।

महाभारत में स्त्रियों और पुरुषों का जो वर्णन है वह
अत्यन्त मनोहर और मर्यादायुक्त है। आधुनिक संस्कृत कवियों
की नाईं इस ग्रन्थ में स्त्रियों की सुन्दरता का वर्णन ग्राम्य रीति
से नहीं किया गया है। युधिष्ठिर ने द्रौपदी का जो वर्णन किया
है वह देखने योग्य है। "जो न तो बहुत ऊँची है और न
ठिंगनी, जो न मोटी है न पतली, जिसके नेत्र और श्वास शरद्
ऋतु के कमलपत्र के समान बड़े और सुगन्धयुक्त हैं; जिस
प्रकार किसी मनुष्य की इच्छा होती है कि मेरी स्त्री इतनी
सुन्दर हो उतनी ही जो सुन्दर है; और जो मेरे बाद सोती
तथा पहले उठती है; ऐसी अपनी स्त्री द्रौपदी को मैं दाँव पर
लगाता हूँ।" अस्तु; बृहन्नला के वेष में अर्जुन का जो वर्णन
है वह बड़े मज़े का और हूबहू है। जिस समय भीष्म और
द्रोण लड़ाई पर जाते हैं, उस समय का वर्णन अथवा आदिपर्व
में रङ्गभूमि में बिना बुलाये जानेवाले कर्ण का वर्णन अत्यन्त
आकर्षक है। आशा है कि इन उदाहरणों से यह विषय

समझ में आ जायगा। अब हम इस काव्य के चौथे अङ्ग अर्थात् वृत्त और भाषा का विचार करते हैं।

महाभारत की रचना मुख्यतः अनुष्टुप् वृत्त में की गई है; और अनेक स्थानों में उपजाति वृत्त का भी उपयोग किया गया है। गम्भीर कथा-वर्णन और महाकाव्य के लिए ये वृत्त सब प्रकार से योग्य हैं। अर्वाचीन संस्कृत महाकाव्यों में इन्हीं वृत्तों का उपयोग किया गया है। पुराणों में, उपपुराणों में तथा अन्य साधारण ग्रन्थों में भी अनुष्टुप् छन्द का ही उपयोग किया जाता है, इसलिए यह वृत्त साधारण सा हो गया है। परन्तु प्राचीन महाकवियों के अनुष्टुप् छन्द के श्लोक बड़े प्रौढ़ और गम्भीर होते हैं। यह बात रघुवंश के पहले और चौथे सर्ग के श्लोकों से हर एक के ध्यान में आ सकती है। महाभारत की भाषा गम्भीर और प्रौढ़ है। इसी प्रकार वह सरल और शुद्ध भी है। सरलता और प्रौढ़ता का मेल प्रायः एक स्थान में बहुत कम देखा जाता है। आधुनिक महाकाव्यों की भाषा प्रौढ़ तो अवश्य है, पर इस गुण की सिद्धि के लिए उनमें सरलता का त्याग करना पड़ा है। शब्दों की रमणीय ध्वनि पाठकों को अच्छी लगती है सही, परन्तु शब्दों का अर्थ समझने में उन्हें ठहरना पड़ता है और विचार भी करना पड़ता है। आधुनिक पुराण-ग्रन्थों की दशा उलटी है। उनकी भाषा तो सरल है, परन्तु वह बहुत अशुद्ध है और उसमें प्रौढ़ता का नाम तक नहीं है। महाभारत में दोनों गुण—प्रौढ़ता और

सरलता—पाये जाते हैं। बोलचाल की भाषा का कोश
और प्रतिभाशाली कवि जैसी भाषा का उपयोग करेगा,
भाषा महाभारत की है। आर्नल्ड का कथन है कि प्र
सम्बन्ध में मिल्टन के काव्य की भाषा वैसी है जैसी ग
के लिए होनी चाहिए; परन्तु वह शुद्ध और अमिश्रित
भाषा नहीं है। इसमें लैटिन और ग्रीक शब्दों तथा
रचनाओं की भी भरमार है। सारांश, भाषा की दृष्टि से
महाभारत का दर्जा मिल्टन के काव्य से ऊँचा है। महाभा
के कुछ प्रधान भागों में जिस भाषा का उपयोग किया गया
उससे प्रकट होता है कि जब संस्कृत भाषा हज़ारों लोगों की
बोलचाल की भाषा थी, उस समय की शुद्ध और सरल संस्कृत
भाषा में प्रौढ़ शब्द-रचना का होना कहाँ तक सम्भव है।

महाभारत में व्यासकृत जो मूल भाग है उसकी भाषा
अन्य भागों की भाषा से विशेष सरस, सरल और गम्भीर
देख पड़ती है। सौति भी कुछ कम प्रतिभावान् कवि न था।
परन्तु उसके समय में साधारण जनता की बोलचाल में संस्कृत
भाषा प्रचलित न थी, इसलिए उसके द्वारा रचे हुए भाग की
भाषा में थोड़ा सा अन्तर हो जाना स्वाभाविक है। जो
यह जानना चाहते हैं कि व्यासकृत मूल भारत की भाषा
कितनी प्रौढ़, शुद्ध, सरस और सरल है, वे भगवद्गीता की भाषा
को एक बार अवश्य देखें। जिस प्रकार यह ग्रन्थ
समस्त भारत में प्रख्यात ...

प्रकार उसकी भाषा भी अमृत-तुल्य है। जिस प्रकार उसमें महाभारत का सबसे श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान भरा हुआ है उसी प्रकार संस्कृत भाषा पर व्यासजी की प्रभुता भी शिखर तक पहुँची हुई उसी ग्रन्थ में देख पड़ती है। संस्कृत भाषा के सम्पूर्ण साहित्य में भाषा की दृष्टि से भी भगवद्गीता की समानता करनेवाला कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है। सरलता, शब्दरचना की शुद्धता, वाक्यों की श्रुतिमनोहर और गम्भीर ध्वनि आदि भगवद्गीता की भाषा के अद्वितीय गुण हैं। इस सर्वोत्तम गीता-ग्रन्थ का प्रत्येक शब्द और प्रत्येक वाक्य सुवर्णमय है; क्योंकि वे सचमुच सुवर्ण के समान ही छोटे, वज़नदार और तेजस्वी हैं।

ऊपर बतलाये हुए गुणों के अतिरिक्त एक और गुण के कारण भी, संसार के सब आर्ष महाकाव्यों में, महाभारत की श्रेष्ठता प्रस्थापित होती है। यह नहीं बतलाया जा सकता कि किसी महाकाव्य का प्राण या जीवात्मा अमुक ही है। कवि विविध भाँति से अपने पाठकों का मनोरञ्जन करता है और भिन्न-भिन्न प्रसङ्गों तथा दृश्यों का वर्णन करता है; परन्तु मनो-रञ्जन के सिवा उसका और कुछ हेतु देख नहीं पड़ता। महाभारत का हाल ऐसा नहीं है। उसमें एक प्रधान हेतु है जो समस्त ग्रन्थ में एक सामान्य सूत्र के समान ग्रथित है और जिसके कारण इस काव्य के प्राण या जीवात्मा का परिचय स्पष्ट रीति से हो सकता है। किसी प्रसङ्ग का वर्णन करते समय

व्यासजी के नेत्रों के सामने सदैव धर्म ही एक व्यापक हेतु उपस्थित रहा करता था। उनका उपदेश है कि "मनुष्य को धर्म का आचरण करना चाहिए; ईश्वर-सम्बन्धी तथा मनुष्य-सम्बन्धी अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए और धर्माचरण से ही उसके सब उद्दिष्ट हेतु सिद्ध होते हैं। उस धर्माचरण से पराङ्मुख होने के कारण ही उसके सब उद्दिष्ट हेतु नष्ट हो जाते हैं। कितना ही बड़ा सङ्कट क्यों न आ जाय, दशा कितनी ही बुरी क्यों न हो जाय, पर मनुष्य को धर्म-त्याग कभी नहीं करना चाहिए।" इसी उपदेश के अनुसार सौति ने भी स्थान-स्थान पर उपदेश किया है। समस्त महाभारत-ग्रन्थ में धर्म की महिमा कूट-कूटकर भरी गई है। किसी आख्यान या पर्व को लीजिए, उसका तात्पर्य यही देख पड़ेगा, इसी तत्त्व की जयध्वनि सुन पड़ेगी कि "यतो धर्मस्ततो जयः।"

—माधवराव सप्रे

टिप्पणी

(१) जगत् में सबसे उत्तम और अवश्य जानने योग्य कौन है ?

[पं० मदनमोहन मालवीय—प्रयाग की पुण्यभूमि में २५ दिसम्बर, १८६१ ई० को महामना मालवीयजी का जन्म हुआ। इनके पिता पं० ब्रजनाथजी भी बड़े भारी विद्वान् तथा यशस्वी थे। मालवीयजी ने १८७९ में एंट्रेंस तथा १८८४ में बी० ए० की परीक्षा म्योर कालेज से पास की। कई कारणों से एम० ए० का पढ़ना छोड़ इन्होंने गवर्नमेंट हाईस्कूल प्रयाग में ही ४०) मासिक पर अध्यापन-कार्य आरम्भ किया। परन्तु देश-सेवा के कार्यों की ओर इनका ध्यान सदैव रहा। तीन वर्ष पीछे इस कार्य को छोड़ कालाकाँकर से निकलनेवाले 'हिन्दोस्तान' पत्र के सम्पादक रहे। अपने देश-प्रेम तथा समाज-सेवा के कारण इनका परिचय बड़े-बड़े लोगों से हो गया। इनके अनुरोध से आपने कानून पढ़ना आरम्भ किया, विशेषकर कांग्रेस के जन्मदाता मिस्टर ए० ओ० ह्यूम के अनुरोध से। पर महामना मालवीयजी का ध्येय वकालत करके धन कमाना न था। वे तो अपने देश को उन्नत देखना चाहते थे। शिक्षा, धर्म, समाज, राष्ट्र सबका कल्याण उनके जीवन का लक्ष्य था। मातृभाषा हिन्दी की सेवा तो इनके शिक्षाकाल से ही आरम्भ होती है। कचहरी में हिन्दी को स्थान दिलाना इन्हीं के उद्योग का फल है। हिन्दी को देश की शिक्षा का माध्यम बनाना भी आपका उद्देश्य है। अभी-अभी आपने अपने स्थापित हिन्दू-विश्वविद्यालय बनारस में इंटरमीडियेट कक्षाओं की शिक्षा हिन्दी द्वारा होने की घोषणा की है। यद्यपि आपका हिन्दी का मधुर भाषण अलौकिक प्रभाव रखता है तथापि [illegible] लेखना के

कारण इन्हें लिखने का अवकाश उतना नहीं मिलता। फिर भी जब कभी आप लिखते हैं तो भाषा का प्रवाह, विचारों की निर्मलता, भावों की पवित्रता और उद्‌गारों की ओजस्विता अपूर्व ही होती है। मालवीयजी के रचनात्मक कार्य देश के किसी अन्य नेता से कम नहीं हैं। हिन्दू-विश्वविद्यालय, हिन्दू-सभा, अछूतोद्धार, राष्ट्र-सभा आदि में सर्वत्र आपका हाथ है। इतना सम्मान और गौरव प्राप्त करने पर भी वे नम्रता की मूर्ति हैं; सरलता के जीवन हैं; पवित्रता के प्राण हैं। उनकी वाणी से मधु-वर्षा होती है; उनके सिद्धान्तों में सत्य का प्रकाश होता है और उनके कार्यों में कोमलता और कल्याण का निवास होता है।]

विभूषित—सजा हुआ; अलंकृत। नेत्र-पथ—आँखों का मार्ग। ज्योतिष्मती—प्रकाशवाली। अलङ्घनीय—जिसका उल्लङ्घन न किया जाय; जो तोड़ा न जाय। मरीचिमाली—सूर्य। स्थावर—जड़; अचर। जङ्गम—चर; चलनेवाले। अणुवीक्षण यन्त्र—खुर्दबीन; वह यन्त्र जिससे बहुत ही छोटी वस्तु भी दिखाई दे। अचिन्त्य—जिसका चिन्तन अथवा विचार न हो सके। आविष्कार—नई बात निकालना। प्रयोजनवती—किसी मतलब से की गई। शरीरी—शरीर धारण करनेवाले; जीव। अनिर्वचनीय—वाणी से न कही जाने योग्य।

(२) आशीर्वाद

[बाबू बालमुकुन्द गुप्त—ये उन लेखकों में से हैं जिन्होंने आरम्भ में उर्दू में लिखना आरम्भ किया। परन्तु भालवीयजी, प्रतापनारायण मिश्र आदि के प्रभाव से तथा जातीयता के आवेश में आकर इन्होंने हिन्दी में लिखना आरम्भ किया। इनमें प्रतिभा थी, हास्य और व्यंग्य भी स्वाभाविक था। उर्दू की चुभती हुई शैली पहले से थी ही, अतः हिन्दी में भी शीघ्र ही उनकी शक्ति प्रस्फुरित होने लगी। उस समय की राजनीतिक तथा सामाजिक दशा को देखकर इनका हृदय

व्याकुल हो उठा और उस समय के कठोर क़ानूनों के कारण इन्होंने व्यंग्य का आश्रय लिया। 'शिवशम्भु' के कल्पित नाम से ये बड़े ही चुटीले लेख लिखने लगे। इनकी भाषा की शक्ति और वेग अपना प्रभाव लाये बिना नहीं रहते। इनकी शैली मिली-जुली होने पर भी प्रधानतः हिन्दी ही है, वरन् यों कहना चाहिए कि इन्होंने हिन्दी में अद्भुत लोच उत्पन्न कर दिया है। ये अग्रवाल कुल के भूषण थे। संवत् १९२२ की कार्तिक शुक्ला चतुर्थी को इनका जन्म गुरियानी ग्राम में, जो रोहतक ज़िले में है, हुआ था। ये 'अख़बारे चुनार' तथा 'कोहनूर' दो उर्दू पत्रों के सम्पादक रहे। फिर हिन्दी सीखकर कालाकाँकर से निकलनेवाले 'हिन्दोस्तान' पत्र के सम्पादक हुए। इसके पश्चात् 'बंगवासी' के और फिर १९५४ में 'भारतमित्र' के सम्पादक हुए, जहाँ अपने जीवन के अन्त तक रहे। इनकी आलोचना तीव्र होती थी और इनके लेखों से देश की दशा का ज्ञान झलकता था।]

तबियत भुरभुरा उठी—चित में उमङ्ग उठी। अदृश्य—जो दिखाई न दे। सुषुप्ति—जागने और सोने के बीच की अवस्था। अभिषेक—सिंचन; स्नान। अभ्रस्पर्शी—बादलों को छूनेवाले; बहुत ऊँचे। आठ-आठ आँसू रुलाना—फूट-फूटकर रुलाना; अत्यन्त रुलाना। सद्यजात—तत्काल उत्पन्न हुआ। नवजात—नया ही उत्पन्न हुआ।

(३) अनाथ बालिका

[पं० ज्वालादत्त शर्मा—इनका जन्म संवत् १९४५ वि० में, मुरादाबाद में, हुआ। ये संस्कृत के साथ-साथ उर्दू, फ़ारसी के भी अच्छे ज्ञाता हैं। इनकी हिन्दी [illegible] के ढङ्ग की होती है। आधुनिक ढङ्ग [illegible] इनकी गणना प्रथम है। इनकी [illegible] तो होता ही है, [illegible] कहानी में ये प्रायः [illegible] सुखान्त परिणाम

देखाकर उसे बड़ी आनन्ददायिनी बना देते हैं। ये अच्छे स
रोचक भी हैं। सरस्वती में इनके लेख और कहानियाँ अधि
प्रकाशित होती रही हैं। स्वयं भी इन्होंने 'प्रतिमा' नाम की
पत्रिका का सम्पादन किया था। इनकी शैली पर संस्कृत की छाप
हुए भी वह सुबोध है।]

स्पष्टवक्ता—साफ़-साफ़ कहनेवाला। निरभिमान—अभि
रहित; नम्र। कान्तिपूर्ण—तेजयुक्त; तेजस्वी। निरीह—निः
निश्चेष्ट; धीर; शिष्ट। अदृष्ट—भाग्य; दैव। आधिपत्य—अधि
कब्ज़ा। बेवास्ते—अकारण। विस्मृति—भूल जाना; विस्म
निरामिषभोजी—जो आमिष (मांस) न खाता हो। आवे
प्रकाश। आत्मीया—सगी सम्बन्धी; अपनी आत्मा से स
रखनेवाली। प्रकृत—मूल; असली। सहोदरवत्—सगे भ
समान। पुण्यतोया—पवित्र जलवाली। देवोपम—देवता के स
क़रीने से—ढङ्ग से; तरीके से। साङ्ग—पूर्ण रूप से। बेहूदा ह
अशिष्ट व्यवहार। लानत मलामत—धिक्कार; निन्दा। नै
आचारिक। अभिनय—खेल; नाटकीय पात्र का व्यापार।

(४) बात

[पं० प्रतापनारायण मिश्र—कानपुर ज़िले के बैजेगाँव
जी का जन्म संवत् १९१३ में हुआ था। इनके पिता का
संकटाप्रसाद था। ये बड़े मौजी जीव थे। पुस्तकों के कीड़
इन्हें पसन्द न था, पर इनमें मौलिकता थी। संस्कृत, हि
अँगरेज़ी की शिक्षा इन्हें मिली थी और कुछ उर्दू फ़ारसी
अभ्यास इन्होंने कर लिया था। ये बड़े हास्यप्रिय थे, व्यंग्य
ज़िन्दादिल थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ये समसामयिक थे और उन
गुरु, मित्र, उपास्य देव सब कुछ मानते थे। ये भी बाबू हरि
भाँति ही जातीयता के भक्त थे—हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान

निछावर करते थे। चलती-फिरती भाषा में ग्रामीण प्रयोगों द्वारा ही ये जान डाल देते थे। इन्होंने हिन्दी-साहित्य की ओर रुचि बढ़ाने के लिए 'ब्राह्मण' पत्र भी निकाला था। ये कवि भी थे। इन्होंने लगभग ५० पुस्तकें लिखीं, जिनमें हठी हमीर, भारत-दुर्दशा, राजसिंह, युगलांगुलीय आदि मुख्य हैं। इनका गद्य व्याकरण की दृष्टि से इतना शुद्ध न होने पर भी अत्यन्त रोचक और मुहाविरेदार है।]

सहवर्ती—साथी; साथ रहनेवाले। अशरफुल्मखलूक़ात—सृष्टि में श्रेष्ठ। नभचारियों—खगों; पक्षियों। आदृत—आदर किया गया; सम्मानित। कलामुल्लाह—ईश्वर का वचन। पर्याय—एक ही अर्थ का वाचक। निर्गत—बाहर निकला हुआ। कापुरुष—डरपोक; कायर। जात्योपकार (जात्युपकार)—जाति की भलाई। विदग्धालापों—विद्वत्तापूर्ण कथनों; विद्वानों की बातों।

(५) भगवान् श्रीकृष्ण

[पं० पद्मसिंह शर्मा—शर्माजी संयुक्त प्रान्त के बिजनौर ज़िले के नायक नगला ग्राम के निवासी थे। ये हिन्दी, संस्कृत, उर्दू तथा फ़ारसी के धुरन्धर विद्वान् थे। इनकी काव्य-मर्मज्ञता प्रगाढ़ थी और तुलनात्मक समालोचना अपने ढंग की निराली होती थी। ये आर्यसमाजी थे और ज्वालापुर के गुरुकुल में अध्यापन का कार्य करते थे, परन्तु इनकी दृष्टि विशाल और हृदय का द्वार सभी धर्मावलम्बी साहित्यिकों के लिए उन्मुक्त था। हिन्दी, उर्दू, संस्कृत के कवियों की सूक्तियाँ इनकी जिह्वा पर बैठी रहती थीं। बात-बात में इनकी सरस सूक्तियाँ बड़ी मनोमोहक होती थीं। बिहारी-सतसई पर लिखी गई पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र की टीका पर जब इन्होंने सतसईसंहार नामक आलोचना निकाली तब हिन्दी जगत् में तहलका मच गया और लोगों ने इन्हें पहिचाना। इसी आलोचना पर इन्हें १२००) 'मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक' भी मिला। इनका गद्य बहुत ही सजीव और चुटीला

होता है। उसमें उर्दू, संस्कृत सभी के प्रयोगों की अच्छी बहार देखने को मिलती है। ये सत्कवियों के बड़े भक्त थे।]

दुःख-दावानल—दुःख की दावाग्नि (वन की आग)। निशि-दिन—अत्यन्त सताया हुआ। कातर—दुखी। मर्सिया—मृत्यु का गीत। रज्जु—रस्सी। प्रचुर—अधिक; विपुल। वंचक—ठगिया; छली। सर्वगुणान्वित—सब गुणों से युक्त। सार्वभौम—समस्त पृथ्वी का। प्रलोभन—लालच। अवश्यम्भावी—अवश्य होने-वाला। आपज्जनक—विपत्ति उत्पन्न करनेवाला। दुरभिसन्धि—बुरे भावों से की गई सन्धि। प्राणपण—प्राणों की बाज़ी। औचित्य—उचित होना; ठीक होना। प्रत्याख्यान—प्रतिकथन। ज़मानासाज़—समयानुकूल व्यवहार करनेवाला। करारापन—खरापन। कर्तव्य-पराङ्मुख—कर्तव्य से मुख मोड़नेवाला।

(६) कवि और चितेरे की डाँड़ामेड़ी

[पं० बालकृष्ण भट्ट—हिन्दी गद्य-लेखकों में पं० बालकृष्ण भट्ट का विशेष स्थान है। इनका जन्म प्रयाग में संवत् १९०१ में हुआ था। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। अँगरेज़ी, उर्दू, फ़ारसी का भी इन्हें अच्छा अभ्यास था। मिशन स्कूल में इन्होंने शिक्षा पाई और जमुनामिशन स्कूल में अध्यापक भी रहे। परन्तु वहाँ पादरी साहब से इनकी न बनी। फिर 'हिन्दी-प्रदीप' नामक पत्र के सम्पादक हुए। इस पत्र द्वारा इन्होंने हिन्दी की अभूतपूर्व सेवा की। लगातार ३२ वर्ष तक अपने गद्य निबन्धों द्वारा इन्होंने साहित्यिक रुचि को जागरित किया। इन लेखों में गम्भीरता और हास्य दोनों का अद्भुत मिश्रण होता था। अधिकतर लेख भट्टजी के ही होते थे। सामाजिक, राजनीतिक, सामयिक तथा अन्य विषयों पर विचित्र लेख होते थे। इनके लेखों में ऐसा जान पड़ता है कि लेखक ने अपना हृदय खोलकर रख दिया है। ये [illegible] ज्ञाता तो थे ही, भाषा पर भी इनका पूर्ण अधिकार था।

ये अपनी भाषा में संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी सभी भाषाओं से शब्द और मुहावरे चुन-चुनकर एकत्र करते थे, परन्तु उपयुक्तता में त्रुटि नहीं होने पाती थी। उपयुक्त प्रयोगों द्वारा अपने भावों को व्यक्त करना इन्हें ख़ूब आता था। ये कायस्थ-पाठशाला में संस्कृत के अध्यापक भी रहे। इनकी 'सौ अजान एक सुजान', 'नूतन ब्रह्मचारी', 'साहित्य-सुमन', 'रेल का विकट खेल' और 'बाल-विवाह नाटक' आदि पुस्तकें पढ़ने योग्य हैं।]

डाँड़ामेंड़ी—स्पर्द्धा; होड़; एक दूसरे से आगे बढ़ने की इच्छा। लोकोत्तर—अलौकिक; अद्भुत। पेखना—देखना (अब इस शब्द का प्रयोग काव्य में ही होता है)। वाग्-विभव—वाणी का वैभव। दुरूह—कठिन। ख़िलवतगाह—एकान्त स्थान। हुस्नपरस्ती—सौंदर्यो-पासना; सुन्दरता की पूजा। ख़ामी—कमी। पटुबुद्धि—कुशल; चतुर। उपचय—वृद्धि; उन्नति। रुजू किया—झुकाया; प्रवृत्त किया। साङ्गोपाङ्ग—अङ्ग और उपाङ्गों सहित; पूर्ण।

(७) पार्वती की तपस्या और फल-प्राप्ति

[पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी—आचार्य द्विवेदीजी ने हिन्दी-गद्य को व्याकरण के नियमानुकूल बनाने में एक प्रकार से जातिभर के शिक्षक का कार्य किया है। ये कवि भी अच्छे हैं, परन्तु इनका प्रधान कार्य गद्य-क्षेत्र में है। इनका जन्म दौलतपुर (रायबरेली) में संवत् १९२१ में हुआ था। आरम्भ में ये जी० आई० पी० रेलवे में कर्मचारी थे, परन्तु मातृभाषा की सेवा के लिए इन्होंने उसे छोड़ दिया। संवत् १९६० में ये 'सरस्वती' के सम्पादक हुए। १८ वर्ष तक 'सरस्वती' द्वारा इन्होंने सरस्वती की जो आराधना की उसके फल-स्वरूप आज हिन्दी गद्य का स्थिर रूप देखने में आता है। इन्होंने रघुवंश, सचित्र महाभारत, कुमारसम्भव, किरातार्जुनीय आदि संस्कृत ग्रन्थों के तथा 'शिक्षा', 'स्वाधीनता' आदि अँगरेज़ी ग्रन्थों के भी अच्छे अनुवाद

किये; सामयिक लेखों द्वारा अनेक हिन्दी लेखकों तथा कवियों को प्रोत्साहन दिया; समालोचनाओं द्वारा भी साहित्यिक अभिरुचि उत्पन्न की। आपकी गद्य-शैली कई प्रकार की है। कहीं तो संस्कृत-पदावली अधिक है, कहीं चलती भाषा है। विषय के अनुसार उसमें परिवर्तन होता है। परन्तु व्यंग्य द्विवेदीजी के गद्य की प्रधानता है। उसमें ओज और सुबोधता भी सर्वत्र पाई जाती है। आपके लेखों के अनेक संग्रह—अद्भुत आलाप, रसज्ञ-रञ्जन, साहित्य-सन्दर्भ, साहित्य-सीकर आदि नामों से—छपे हैं। द्विवेदीजी सचमुच हिन्दी-गद्य के आधुनिक युग के सबसे बड़े उन्नायक हैं—उनका पद आचार्य का है।]

चरम सीमा—आत्यन्तिक सीमा; पराकाष्ठा। उग्र—कठोर। पलाश—ढाक; टेसू। लाक्षारस—लाख का रस जो लाल रङ्ग का होता है। तपश्चरण—तपस्या; तप करना। परकीय—गैर; दूसरा। नतगात्री—झुके हुए शरीरवाली। कृशोदरी—पतले पेटवाली। कर्कश—कठोर। पिनाकपाणि—महादेव; पिनाक नामक धनुष धारण करनेवाले। मनोभव (मन से उत्पन्न हुआ)—कामदेव। पुष्पधन्वा—फूलों के धनुषवाला (कामदेव)। उत्ताप—जलन। उपालम्भ—ताना मारना; शिकायत। परिमित—सीमित; नपा-तुला। पराकाष्ठा—अतिसीमा; हद। पशुपति—(१) पशुओं का स्वामी (महापशु), (२) शिव (नन्दी के स्वामी)। बीभत्स—घृणित। भूतनाथ—(१) भूतों के स्वामी (भयङ्कर वेषवाले), (२) शिव (जीवों के स्वामी)। भुजङ्गभूषण—शिव (सर्प हैं भूषण जिनके)। कलाधर—चन्द्रमा। दिगम्बर—नङ्गे (दिशाएँ ही हैं वस्त्र जिनका)। साधनीभूत—साधन-स्वरूप। यूप—खम्भा; यज्ञ-स्तम्भ। ताण्डव-नृत्य—शिवजी का नाच जिसे वे प्रलय के समय करते हैं। मदस्रावी—मद टपकानेवाला। नष्ट स्वभाव—दुःस्वभाव, बुरी आदत। अनादि-निधन—जिनका न आरम्भ (आदि) हो और न मृत्यु

का आरम्भ उर्दू से हुआ और अब भी ये उर्दू के अच्छे लेखक माने जाते हैं। परन्तु बाद को हिन्दी में लिखना आरम्भ करके इन्होंने अक्षय कीर्ति प्राप्त की। पहले ये नार्मल स्कूल में अध्यापक थे, फिर कुशल कहानीलेखक हुए। इनकी छोटी कहानियाँ बड़ी ही हृदयस्पर्शिनी होती हैं। इनकी भाषा भी चलती और सरल होती है। उसमें मुहाविरों की छटा भी बहुत स्वाभाविक होती है। सामाजिक, राष्ट्रीय, पारिवारिक, नागरिक सभी जीवनों पर सुन्दर प्रकाश डालने की क्षमता उनमें है। ये मध्यम श्रेणी के जीवन का चरित्र चित्रण करने में दक्ष हैं। इन्होंने अब तक लगभग ४०० कहानियाँ लिखी होंगी। इनके अतिरिक्त सेवा-सदन, प्रेमाश्रम, रङ्गभूमि, कायाकल्प, निर्मला, ग़बन, कर्मभूमि आदि मौलिक उपन्यास भी लिखे हैं। एक-दो नाटक भी लिखे हैं, पर वे सफल नहीं हुए। इन्होंने 'मर्यादा' और 'माधुरी' का सम्पादन भी किया था। अब अपने ही सरस्वती प्रेस से 'हंस' और 'जागरण' पत्र निकाल रहे हैं। इनका जीवन इनकी कृतियों में प्रतिबिम्बित रहता है। इनके हृदय में भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के लिए अगाध अनुराग है।]

मर्मभेदी—हृदय को भेदनेवाला। आर्त स्वर—दुःखपूर्ण आवाज़। प्रहसन—हँसी। रद्दा चढ़ाया—थप्पे पर रखा, बढ़ावा दिया (दीवार पर रद्दा रखने से जैसे वह ऊँची होती जाती है, उसी प्रकार मन को बढ़ावा देना)। आनन-फ़ानन में—बहुत शीघ्र। बाकमाल—गुणी। करुणक्रन्दन—शोक का रोना। कारसाज़—काम बनानेवाला। प्रतिघात—बदला। प्रतिकार—बदले का भाव। दम्भ—अभिमान। हावी—ग़ालिब; क़ाबू में रखनेवाला।

(१०) शिवाजी से छत्रसाल की भेंट

[बाबू रामचन्द्र वर्मा—संवत् १९४६ के माघ मास में बाबू रामचन्द्र वर्मा ने काशी के एक प्रसिद्ध खत्री कुल में जन्म लिया था। ये अँग- ...ी, फ़ारसी, बँगला, मराठी, गुजराती आदि कई भाषाओं के ज्ञाता हैं।

इनकी हिन्दी रचनाओं की संख्या ५०, ६० के लगभग है, परन्तु उनमें अनुवाद ही अधिक हैं। ये अनुवाद भी उपयोगी ग्रन्थों के हैं जिनसे हिन्दी-साहित्य के भाण्डार की श्रीवृद्धि हुई है। इन्होंने 'भारत जीवन' पत्र में आरम्भ में लेख लिखे, फिर ये 'हिन्दी-केसरी' और 'बिहार-बन्धु' के सम्पादक रहे। इसके पश्चात् ये काशी-नागरीप्रचारिणी सभा में कार्य करने लगे। वहाँ इन्होंने हिन्दी-शब्दसागर कोश में कार्य किया और काशी-नागरीप्रचारिणी पत्रिका का भी कुछ काल सम्पादन किया। आजकल भी ये सभा में ही कार्य कर रहे हैं। इनके अनुवाद-ग्रन्थों में से *छत्रपति शिवाजी से यह लेख लिया गया है।*]

अरण्यवासिनी—वन में रहनेवाली। रजनीनाथ—चन्द्रमा। परोक्ष—आँख से ओझल। भूत-दया—जीवों पर दया। प्रशस्त—चौड़ा; विशाल। अकल्पित—जिसकी कल्पना भी न की हो। अन्तर्धान होना—छिप जाना; एकदम ग़ायब हो जाना। दारुण यातना—कठोर दुःख। दुर्लंघ्य—जो कठिनता से लाँघा जाय (*पार किया जाय*)। उदात्त—उच्च कोटि का; उन्नत। शाश्वत निद्रा—चिर निद्रा; मृत्यु। शालीनता—विनय; नति; सच्चरित्रता। निर्व्यसनता—दुर्गुण से रहित होना।

(१२) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

[**बाबू श्यामसुन्दरदास**—वर्तमान काल के हिन्दी-सेवियों में बाबू श्यामसुन्दरदास का नाम इतिहास में अमर रहेगा। आप हिन्दू-विश्वविद्यालय काशी में हिन्दी विभाग के मुख्याधिष्ठाता हैं। हमारे प्रान्त में हिन्दी को विश्वविद्यालयों में प्रतिष्ठा प्राप्त कराने का बहुत कुछ श्रेय आपको ही है। साहित्यालोचन, भाषा-विज्ञान, हिन्दी साहित्य का इतिहास आदि उच्च श्रेणी की पुस्तकें लिखकर आपने उच्च परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में सहायता पहुँचाई है। आपकी कीर्ति-कौमुदी काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा सर्वत्र फैली है। इस सभा के संस्थापन में बाबू साहब का बहुत बड़ा हाथ है। आपका जन्म संवत् १९३२

के आषाढ़ मास में काशी में हुआ था। इनके पिता का नाम लाला देवीदास खन्ना था। इनके पूर्वज लाहौर से आकर काशी में बस गये थे। १९५४ वि० में आप ग्रेजुएट हुए। काशी के सेंट्रल हिन्दू कालेज में अँगरेज़ी का अध्यापन, इरिगेशन विभाग शिमला में कार्य, महाराज काश्मीर के प्राइवेट दफ़्तर का कार्य तथा लखनऊ के कालीचरण हाई-स्कूल की हेडमास्टरी करने के पश्चात् आप हिन्दू विश्वविद्यालय में आये। अपने सदुद्योग का सुफल और सुयश जितना बाबू साहब को मिला है उतना अपने जीवनकाल में शायद ही किसी को मिला हो। अपने लगाये हुए वृक्ष को आप अपनी आँखों के आगे फलता-फूलता देख रहे हैं। आपको गम्भीर विषयों पर लिखने का ही अवसर मिला है और उसे सुबोध रूप से लिखने में आप सफल हुए हैं।]

अपेक्षाकृत—तुलना करते हुए। अजेय—जो जीता न जा सके। विनिमय—परस्पर परिवर्तन। अन्योन्याश्रित—एक दूसरे पर अवलम्बित। तादृश—वैसी। दत्तचित्त—चित्त लगाये हुए; ध्यानयुक्त। व्यञ्जक-शक्ति—प्रकाशित करने की शक्ति। आविर्भाव—प्रकट होना; उदय। चिरस्थायिनी—सदैव रहनेवाली। श्रृङ्खला—साँकल; जञ्जीर। सन्निविष्ट करना—बिठाना; सम्मिलित करना। परम्परागत—परम्परा से आया हुआ; एक से दूसरे पर आया हुआ; वंशानुगत।

(१२) चन्द्रगुप्त और चाणक्य

[बाबू जयशङ्कर 'प्रसाद'–'प्रसाद' जी की गणना हिन्दी के प्रतिभाशाली लेखकों में है। नाटक, काव्य, उपन्यास, कहानी सभी के लिखने में इनको सफलता हुई है। इनका जन्म काशी में, संवत् १९४६ में, हुआ। इनकी शिक्षा घर पर ही हुई; परन्तु संस्कृत, फ़ारसी, अँगरेज़ी, बँगला का इन्हें अच्छा ज्ञान है। इनकी हिन्दी विशुद्ध है, उसमें अन्य भाषाओं का मिश्रण नहीं दिखाई देता। परन्तु इनकी शैली पर बँगला का प्रभाव है। इनके कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, राज्यश्री, अजात-

शत्रु, स्कन्दगुप्त, एक घूँट और चन्द्रगुप्त आदि नाटकों में भारत के अतीत गौरव की जीती-जागती झलक है। इनका 'कङ्काल' नामक उपन्यास भी उत्तम है। काव्य ग्रन्थों में भी इनके ४, ५ संग्रह विद्यमान हैं। प्रसादजी के हृदय में वेदना की अनुभूति है जो उनकी रचनाओं में यत्र-तत्र दिखाई देती है। इनकी कहानियाँ भी सरस हैं। उनकी रचनाओं में रहस्यवाद की झलक बहुधा दिखाई देती है। ये कला के उपासक हैं और इनकी रचनाएँ सुरुचि-सम्पन्न हैं।]

तक्षशिला—बौद्धों का विहार जहाँ प्रसिद्ध विद्यापीठ था और जो पञ्जाब में है। *कुलपति—प्रमुख आचार्य जो विद्यापीठ का सञ्चालक* तथा परम गुरु होता था। स्नातक—शिक्षा-प्राप्त शिष्य। प्रतारणा—छल; प्रवञ्चना। मसी—स्याही। उत्तरापथ—भारतवर्ष का समस्त उत्तरी भाग। विस्फोट—धड़ाका; भड़ककर उड़ जाना। दुर्विनीत—बदतमीज़; जिसमें शिष्टता का अभाव हो; अशिष्टाचारी। वंशानुगत—वंश से आया हुआ; खान्दानी। सृजन—रचना। दुर्दर्ष—जो कठिनता से दबाया जाय। वन्य—वन का; वन से सम्बन्ध रखनेवाला; जङ्गली। अवज्ञा—अनादर। स्पृहणीय—इच्छित। पुष्कल—बहुत सा। अर्गला—किवाड़ों के पीछे रोकने के लिए लगाया जानेवाला लकड़ी का डण्डा। क्रोधाभिभूत—क्रोध से दबाया गया; अत्यन्त क्रुद्ध। अवसान—अन्त। शल्य—तीर। लौह-अस्त्रागार—लोहे के हथियारों का स्थान। नील-लोहित—काले और लाल। दुर्दान्त—दुःशील; दुश्चरित्र। बर्बर—असभ्य। निरवकाश—अवकाश-रहित; शून्य। अतीत—भूतकाल। अनागत—जो आया नहीं है। स्नेहानुरोध—प्रेम का अनुरोध। वाहिनी—सेना।

(१३) अर्जुन पहरेदार

[बाबू वृन्दावनलाल वर्मा—वर्माजी ने झाँसी ज़िले के मऊ नामक स्थान में, संवत् १९४६ में, जन्म लिया था। इनकी शिक्षा

झाँसी, ग्वालियर तथा आगरा में हुई। आगरा कालेज से इ
बी० ए० तथा एल-एल० बी० परीक्षाएँ पास कीं। इस समय ये
के एक प्रसिद्ध एडवोकेट हैं। मृगया और साहित्य इनके जीव
विहार और आनन्द की बातें हैं। बुन्देलखण्ड के प्राकृतिक
दृश्य तथा वेतवा की सलिल-धारा से इन्हें सहज अनुराग है।
तो अब वहाँ जाने का बहाना सा है। वेतवा के तट पर
इनकी लेखनी अब भारतीय गौरव के इतिहास के चित्र हिन्दी-
खींचा करती है। इनकी अधिकांश रचनाएँ वेतवा के विशाल
ही पत्राङ्कित होती हैं। अपनी मौज में आकर ही अपने हृ
उद्गार प्रकट करना इनका स्वभाव है। अतः इनकी रचना
मौलिकता है, स्वाभाविकता है, सजीवता है और है हृदय की
इनकी भाषा में भी बनावट नहीं, विषय के साथ-साथ
भी प्रवाह अबाध गति से चलता है। लगन, संगम, प्र
कुण्डलीचक्र, हृदय की हिलोर, कोतवाल की करामात, महार
और गढ़कुण्डार इनकी कृतियाँ हैं। अन्तिम पुस्तक काशी-
प्रचारिणी सभा द्वारा पुरस्कृत हो चुकी है। यह लेख इसी से
किया गया है।]

रश्मि—किरण। प्रशस्त—चौड़ा; विशाल। आरक्त—
तरह से लाल। श्यामलता—साँवलापन। सजग—सा
प्रखर — तीखा। श्यामकाय — साँवले (काले) शरीर
काहिल—सुस्त। अभेद्यता—जिसका भेदन न किया जा स
अभेद्य होता है, अभेद्य का भाव अभेद्यता है। निविड़—
अमुक्त—दबी हुई। कुमुक—सहायता। महत्त्वाकांक्ष
बढ़ने की इच्छा। अक्षुण्ण—अविकृत; समस्त। कनखियाँ—
(कन+अँखियाँ; अर्थात् तिरछी होकर कानों के पा
आँखें)।

(१४) पञ्च महापातक

* [काका कालेलकर—इनका पूरा नाम तो दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर है, परन्तु काका कालेलकर आपका प्रसिद्धि का नाम है। आप महाराष्ट्रीय सज्जन हैं, पर आपने गुजरात को अपनी निवासभूमि बना लिया है। आप अब गुजराती के ही प्रमुख लेखक हैं। आपके निबन्ध विचार की दृष्टि से उच्च कोटि के तथा मौलिक होते हैं; उनमें जीवन को ऊँचा उठाने की सामग्री रहती है। ऐसे विचारशील लेखक थोड़े ही मिलेंगे। हिन्दी में इनके कुछ लेखों का अनुवाद 'जीवन-साहित्य' नामक पुस्तक में प्रकाशित हुआ है। इनकी शिक्षा पूना के परम प्रसिद्ध फर्ग्युसन कालेज में हुई थी। गुजरात में आपकी गणना धुरन्धर विचारकों में की जाती है।]

संघ—समुदाय; सम्मिलित मण्डल; जमाअत। प्रगति—आगे बढ़ना; उन्नति। अन्याय-सहिष्णु—अन्याय को सहनेवाले। उत्तर-दायित्व—जवाबदेही; भार। अभिज्ञ—जानकार; पूर्ण ज्ञाता। श्रीमान्—धनवान्। अकिञ्चन—जिसके पास कुछ न हो। सत्ता-अधिकार (सत्ताधिकार)—बल का अधिकार। षट्दर्शन—छहों शास्त्र (मीमांसा, वेदान्त, न्याय, सांख्य, योग और वैशेषिक)। नेतृत्व—अगुआपन; लीडरी।

(१५) एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न

[भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र—आधुनिक हिन्दी-गद्य के जन्मदाता, हिन्दी-नाटकों के सूत्रधार बाबू हरिश्चन्द्र सचमुच हिन्दी के लिए अवतार थे। इनका जन्म संवत् १९०७ में, काशी में, हुआ। ये इतिहास-प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंशज थे। इनकी प्रतिभा का प्रकाश सात वर्ष की अवस्था में ही दिखाई दिया था जब इन्होंने खेल-खेल में ही काव्य रचना की थी। १५ वर्ष की अवस्था में तो वे प्रौढ़ काव्य रचना करने लगे थे,

झाँसी, ग्वालियर तथा आगरा में हुई। आगरा कालेज से बी० ए० तथा एल-एल० बी० परीक्षाएँ पास कीं। इस समय ये के एक प्रसिद्ध एडवोकेट हैं। मृगया और साहित्य इनके विहार और आनन्द की बातें हैं। बुन्देलखण्ड के प्राकृतिक दृश्य तथा बेतवा की सलिल-धारा से इन्हें सहज अनुराग है। तो अब वहाँ जाने का बहाना सा है। बेतवा के तट पर इनकी लेखनी अब भारतीय गौरव के इतिहास के चित्र हिन्दी खींचा करती है। इनकी अधिकांश रचनाएँ बेतवा के विशाल ही पत्राङ्कित होती हैं। अपनी मौज में आकर ही अपने उद्गार प्रकट करना इनका स्वभाव है। अतः इनकी रचना मौलिकता है, स्वाभाविकता है, सजीवता है और है हृदय की इनकी भाषा में भी बनावट नहीं, विषय के साथ-साथ भी प्रवाह अबाध गति से चलता है। लगन, संगम, प्र कुण्डलीचक्र, हृदय की हिलोर, कोतवाल की करामात, महारा और गढ़कुण्डार इनकी कृतियाँ हैं। अन्तिम पुस्तक काशी-प्रचारिणी सभा द्वारा पुरस्कृत हो चुकी है। यह लेख इसी से लिया गया है।]

रश्मि—किरण। प्रशस्त—चौड़ा, विशाल। आरक्त—तरह से लाल। श्यामलता—साँवलापन। सञ्जग—साव प्रखर — तीखा। श्यामकाय — साँवले (काले) शरीर काहिल—सुस्त। अभेद्यता—जिसका भेदन न किया जा सके अभेद्य होता है, अभेद्य का भाव अभेद्यता है। निविड़—प्रसुप्त—दबी हुई। कुमुक—सहायता। महत्त्वाकांक्षा—बढ़ने की इच्छा। अक्षुण्ण—अविकृत, समस्त। कनखियाँ—चितवन (कन+अँखियाँ, अर्थात् तिरछी होकर कानों के पास हुई आँखें)।

(१४) पञ्च महापातक

[काका कालेलकर—इनका पूरा नाम तो दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर है, परन्तु काका कालेलकर आपका प्रसिद्धि का नाम है। आप राष्ट्रीय सज्जन हैं, पर आपने गुजरात को अपनी निवासभूमि बना लिया है। आप अब गुजराती के ही प्रमुख लेखक हैं। आपके लेख विचार की दृष्टि से उच्च कोटि के तथा मौलिक होते हैं; उनमें मन को ऊँचा उठाने की सामग्री रहती है। ऐसे विचारशील लेखक कम ही मिलेंगे। हिन्दी में इनके कुछ लेखों का अनुवाद 'जीवन-साहित्य' नामक पुस्तक में प्रकाशित हुआ है। इनकी शिक्षा पूना के प्रसिद्ध फर्ग्युसन कालेज में हुई थी। गुजरात में आपकी गणना श्रेष्ठ विचारकों में की जाती है।]

संघ—समुदाय; सम्मिलित मण्डल; जमाअत। प्रगति—आगे बढ़ना; उन्नति। अन्याय-सहिष्णु—अन्याय को सहनेवाले। उपा-... —... । श्रीमान्—धनवान्। अकिंचन—जिसके पास कुछ न हो। सत्ता-अधिकार (स्वाधिकार)—सत्ता का अधिकार। षट्दर्शन—छहों शास्त्र (मीमांसा, वेदान्त, न्याय, सांख्य, योग और वैशेषिक)। नेतृत्व—अगुआपन; सरदारी।

(१५) एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न

[भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र—आधुनिक हिन्दी-गद्य के जन्मदाता, हिन्दी-नाटकों के सूत्रधार बाबू हरिश्चन्द्र सचमुच हिन्दी के लिए अवतार थे। इनका जन्म संवत् १९०७ में, काशी में, हुआ। ये इतिहास-प्रसिद्ध अमीचन्द के वंशज थे। इनकी प्रतिभा का प्रकाश सात वर्ष की अवस्था में ही दिखाई दिया था जब इन्होंने खेल-खेल में ही काव्य-रचना की थी। १६ वर्ष की अवस्था में तो ये प्रौढ़ काव्य रचना करने लगे थे।

३४ वर्ष की अवस्था में ये परलोक सिधारे। इतनी अल्पायु में ही इन्होंने अनेक *नाटक, काव्य,* उपन्यास, इतिहास आदि के ग्रन्थों की रचना की अनेक पत्र निकाले और अनेक हिन्दी-लेखकों के जन्म दिया। इनका हृदय प्रेम से परिप्लावित और देशभक्ति से पूर्ण था। इन्होंने हिन्दी साहित्य की धारा को देश-प्रेम की ओर मोड़ दिया। ये काशी के धनाढ्य रईस थे, परन्तु इन्होंने अपना समस्त धन साहित्य-सेवा में ही स्वाहा कर दिया। वह दिन हिन्दी के सौभाग्य के उदय का था जिस दिन भारतेन्दु ने इस संसार में जन्म लिया। इनके रोम-रोम से देशभक्ति और मातृभाषा का अनुराग प्रकट होता था। इन्होंने कुल मिलाकर लगभग १५० ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें इनके नाटक प्रधान हैं।]

कीट—कीड़ा। क्रिटिक—समालोचक। लाडिली—प्यारी। समाधि—योगनिद्रा; प्राणवायु को रोककर ध्यानमग्न होना। उद्दण्ड—निडर; अक्खड़। दशमलव—इकाई का दसवाँ भाग $\frac{1}{10}$। मुग्धमणि—मूर्खों में मणि के समान; महामूर्ख। तर्कवाचस्पति—बहस करने में *ब्रह्मा के समान।* *प्राणान्तकप्रसाद—जिनसे मृत्यु प्रसन्न हो* (जिनके इलाज से रोगियों का प्राणान्त हो जाय)। सुलोचन—अन्धे। ज्योतिषाभरण—ज्योतिष का नाम ही जिनका आभूषण है। शीलदावानल—शील को दावाग्नि की तरह जला देनेवाले। नीतिदर्पण—नीति के दर्पण (जैसे दर्पण में किसी वस्तु का झूठा प्रतिबिम्ब दिखाई देता है पर उस पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता वैसे ही इनके हृदय पर आचार-नीति का वास्तविक प्रभाव नहीं पड़ता केवल दिखावा ही रहता है)। *अङ्गीकार—स्वीकार।* *कपोल-कल्पना—बनावटी विचार;* मिथ्या विचारचित्र। प्रवृत्त हुए—लग गये। नित्यता—सदैव रहना (संसार अनित्य है पर इसमें शुभ कर्म ही नित्य हैं। इन्हीं के द्वारा मनुष्य जीवन-मरण की अनित्यता से छूटता है)। डहडहे—गहरे रङ्ग के (जिन अंकुरों का रङ्ग गहरा हरा होता है वे खूब बढ़ते हैं)। सकलपूर्ण—सब प्रकार से

पूर्ण। प्रयास—परिश्रम। मृगयाशील—शिकार करनेवाला; शिकारी। *शशा—खरगोश। मानता (मान)—प्रतिष्ठा। हरित—हरी। दूर्वा—*दूब। कालक्षेप—समय बिताना। इनसे भिन्न—इनके अतिरिक्त; इनके सिवा। तामिस्रमकरालय—अन्धकार-रूपी मगरों से पूर्ण सागर। नास—सुँघनी; हुलास।

(१६) करुणा

[पं० रामचन्द्र शुक्ल—शुक्लजी का जन्म बस्ती ज़िले के अगोना नामक ग्राम में, संवत् १९४१ की शरत्-पूर्णिमा को, हुआ था। बाल्य-काल में इन्होंने संस्कृत की शिक्षा पाई थी। एफ़० ए० तक कालेज में भी पढ़े। संवत् १९६२ में ये काशी आये और हिन्दी-शब्दसागर के सहकारी सम्पादक हुए। *काशी-नागरीप्रचारिणी पत्रिका का भी सम्पा-*दन इन्होंने आठ-नौ वर्ष तक किया। अब ये हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी के अध्यापक हैं। इनके लेखों में गम्भीरता और मननशीलता पाई जाती है। ये प्रकृति से ही गम्भीर हैं। इनकी भाषा अत्यन्त शुद्ध और विद्वत्तापूर्ण लेखों के उपयुक्त है। इनके विचारों की गम्भीरता के कारण ही इनके लेखों में दुरूहता पाई जाती है। ये उच्च कोटि के समा-लोचक हैं और कवि भी हैं। सूर, तुलसी, जायसी आदि कवियों की इन्होंने बड़ी मार्मिक समालोचनाएँ की हैं। बुद्धचरित जैसे काव्य-ग्रन्थ के अतिरिक्त फुटकर कविताएँ भी इन्होंने लिखी हैं। संस्कृत पदावली में ये बड़ी सशक्त और प्रभावपूर्ण भाषा लिखते हैं।]

विवेचन-क्रम—छानबीन करने का क्रम। आरोप—स्थापन करना; कल्पना। तुष्टि—सन्तोष; तृप्ति। सापेक्ष—अपेक्षा रखनेवाला; जिसे दूसरे की आवश्यकता हो। सात्त्विकता—सत्त्वगुण के भाव। निर्लिप्त—जो किसी में लिप्त न हो, जिन पर कोई विकार न पड़े। प्रतीकार—बदला। *मनोवेग-वर्जित—जिसमें मनोवेग न हो। विषाद—रञ्ज;* खेद। प्रसार—फैलना। स्वतः—अपने आप से। मुँडे मुँडे—प्रत्येक

लिए थे। पद-लिप्सा—बनारसी शिष्टाचार। औपन्यासिक—उपन्यास से सम्बन्ध रखनेवाला। अनुपयुक्तता—ठीक न होना अन्यान्य—दूसरे प्रकार से; अन्य भाँति। परिमार्जित—विशुद्ध शुद्ध।

(१७) एक चित्र की दो आकृतियाँ

[श्रीयुत सुदर्शन—प्रेमचन्द की भाँति सुदर्शनजी ने भी कहानियाँ लिखने में अच्छा नाम पाया है। ये पंजाब के निवासी हैं। इनका जन्म संवत् १९५२ में हुआ था। ये भी पहले उर्दू में ही लिखा करते थे। इनकी कहानियों में समाज का सुन्दर और स्वाभाविक चित्रण होता है। घटना की कड़ियों की ठीक योजना करने में भी ये सिद्धहस्त हैं। स्वाभाविकता की मात्रा भी इनकी कहानियों में पर्याप्त रहती है। कहानियों के पात्रों को जैसी सरल और बोलचाल की भाषा की आवश्यकता होती है वैसी ही भाषा इनकी देखने में आती है। अपने ढङ्ग के उच्च कोटि के कहानी-लेखकों में इनकी गणना है।]

लालायित—इच्छुक। कण्टकाकीर्ण—काँटोंवाला; जिसमें काँटे बिखरे हुए हों। दूभर—कठिन। मुहलत—अवकाश। सफ़री—चलता-फिरता। साम्प्रत—इस समय का। छायारी—विचरता। मयस्सर—प्राप्त। क़र्ज़ख़्वाह—ऋणदाता। आत्मसत्व—आत्म-सम्मान। व्यग्रता—बेचैनी। एतराज़—आपत्ति। ज़बरन्—बलात्, ज़बरदस्ती। प्लाट—कथा-वस्तु। ऐक्टिङ्ग—अभिनय। तैश—रोष।

(१८) सिक्खों का उदय और अस्त

[पं० मन्नन द्विवेदी—ये प्रतिभाशाली लेखक थे। इनके गद्य और पद्य दोनों ही अत्यन्त रोचक हैं। ३६ वर्ष की अवस्था में ही इनका शरीरान्त हो जाने से यद्यपि इनकी पूर्ण प्रतिभा का विकास देखने को न मिला तथापि जो कुछ इन्होंने लिखा है उसी से

पता चलता है कि उनकी गद्य-शैली में कितनी नैसर्गिकता है, कितनी रमणीयता है, कितनी सजीवता है और शक्ति के साथ-साथ कितनी मृदुता है। इनका जन्म संवत् १६४२ में गोरखपुर ज़िले के गजपुर ग्राम में हुआ था। इनके पिता पं० मातादीन प्रसिद्ध रईस थे। बी० ए० पास करके ये स्वयं भी तहसीलदार नियत हुए। लेख और कविता ये छोटी अवस्था से ही लिखते और पत्र-पत्रिकाओं में भेजते थे। उनसे इनके हृदय की सरलता तथा स्वदेश-प्रेम का परिचय मिल जाता है। इन्होंने मुसलमानी राज्य का इतिहास, प्रेम, रामलाल, रणजीतसिंह का जीवनचरित, आर्य-ललना, भारतवर्ष के प्रसिद्ध पुरुष आदि ग्रन्थ लिखे हैं।]

सर्वान्तर्यामी—सब के हृदय की जाननेवाला। श्रीगणेश—आरम्भ। नराधम—मनुष्यों में नीच; पतित मनुष्य। निवृत्ति—विराग होना। प्रवृत्ति—अनुराग होना। निर्भीकता—निर्भयता। प्रतिवादी—दूसरे पक्ष से बोलनेवाला। निरवलम्ब—आश्रय-रहित; बिना किसी सहारे के।

(१६) बादल

[पं० गोकुलचन्द शर्म्मा—अलीगढ़ प्रान्त के हरी मगरा नामक ग्राम में इनका जन्म संवत् १६४१ में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० भूपालदेव है, जो आजकल सन्यासी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इनकी आरम्भिक शिक्षा हिन्दी में ही हुई थी। वरनाक्युलर मिडिल पास करने के पश्चात् स्वावलम्बन द्वारा ही इन्होंने अपना जीवन-पथ परिष्कृत किया। मैट्रिक, बी० ए०, एम० ए० सब परीक्षाएँ प्राइवेट ही पास कीं। बचपन से ही ये कुशाग्रबुद्धि थे। एम० ए० में आगरा यूनीवर्सिटी में इनका पद सर्वोच्च रहा। उर्दू तथा संस्कृत का भी इन्हें अच्छा ज्ञान है। गत बीस वर्ष से ये धर्म-समाज कालेज अलीगढ़ में ही अध्यापक हैं। कविता का शौक़ इन्हें आरम्भ से ही था, परन्तु अपने जटिल जीवन-युद्ध के अवकाश-काल में ही इन्हें रचना करने का अवसर

मिला। इनकी कविता में सरसता, ओजस्विता तथा राष्ट्रीय भावना की गूँज सर्वत्र पाई जाती है। कुछ काल से इन्होंने गद्य लिखना भी आरम्भ किया है। उसमें भी स्वाभाविक प्रवाह तथा ओज दिखाई पड़ता है। इनकी रचनाओं में प्रणवीर, प्रताप, जयद्रथ-वध नाटक, गांधी-गौरव, तपस्वी तिलक, निबन्धादर्श, पद्य-प्रदीप और मानसी मुख्य हैं।]

नयनाभिराम—आँखों को सुन्दर लगनेवाले। मुक्ता-धवल—मोती के समान श्वेत। मरीचिमाली—सूर्य; (मरीचि—किरण)। कमनीय—सुन्दर। पीत-लोहित—पीला और लाल। उदग्र—प्रचण्ड; तेज़। परिधान—ओढ़ने का वस्त्र।

(२०) महाकाव्य की दृष्टि से महाभारत की श्रेष्ठता

[पं० माधवराव सप्रे—सप्रेजी का जन्म मध्यप्रदेश में दमोह ज़िले के पथरिया ग्राम में, संवत् १९२० में, हुआ था। संवत् १९४१ में इन्होंने बी० ए० की परीक्षा पास की। सप्रेजी यद्यपि महाराष्ट्रीय थे तथापि वे हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक थे। उन्होंने मराठी के कितने ही ग्रन्थरत्नों का अनुवाद हिन्दी में करके हिन्दी-जनता का बड़ा भारी उपकार किया। 'हिन्दी दासबोध,' 'कर्मयोगशास्त्र या गीता-रहस्य,' 'महाभारत-मीमांसा' आदि इन्हीं के किये हुए अनुवाद हैं। इसके अतिरिक्त 'छत्तीसगढ़ मित्र,' 'हिन्दी-ग्रन्थमाला,' 'हिन्दी-केसरी,' 'कर्मवीर,' आदि पत्रों का सञ्चालन करके आपने हिन्दी का अनन्त उपकार किया। आपका स्वभाव बहुत ही सौम्य था। उच्च कोटि के हिन्दी-लेखक होते हुए भी आप नितान्त निरभिमान थे। यह लेख 'महाभारत-मीमांसा' से लिया गया है जिसके मूल-लेखक मराठी के प्रख्यात लेखक, ग्वालियर के रिटायर्ड चीफ़ जस्टिस तथा बम्बई-विश्वविद्यालय के आनरेरी फ़ेलो रावबहादुर सी० वी० वैद्य हैं।]

आर्ष—ऋषि-सम्बन्धी, ऋषि-प्रणीत; वैदिक। होमर—ग्रीस का प्रसिद्ध कवि। इलियड—होमर द्वारा प्रणीत काव्य जिसमें ट्रोजन

युद्ध का वर्णन है। वृत्त—वर्णन; हाल। संस्कृति—संस्कार, किसी जाति के परम्परागत आचार-विचारों का प्रभाव। पाशुपतास्त्र—शिवजी का दिया हुआ अस्त्र। नमन—वन्दना। असम्बद्धता—अनियमितता; ऐसी बात जिसका उस विषय से सम्बन्ध न हो। प्रतिनायक—विरोधी नायक; जैसे रामायण के नायक राम और प्रतिनायक रावण हैं। अप्रत्यक्ष उल्लेख—ऐसा वर्णन जो स्पष्ट न हो, घुमा-फिराकर किया गया हो। जिज्ञासा—जानने की इच्छा। राष्ट्रीय महत्त्व—जातीय महत्ता। सार्वभौमत्व—समस्त पृथ्वी से सम्बन्ध रखनेवाला। अनुकम्पनीय—दयनीय, दया के योग्य। नखाग्र—नाखून के आगे का भाग। समकक्ष—एक ही कक्षा रखनेवाला; समान। गृह-दक्षता—घर के काम में कुशलता। द्यूत—जुआ। उद्दीपक—उत्तेजना देनेवाला, प्रज्ज्वलित करनेवाला। हस्तक्षेप करना—बाधा डालना। अमोघ—अव्यर्थ; जो निष्फल न जाय। उद्घाटन—खोलना; प्रकाशन। निर्भर्त्सना—फटकार; निन्दा। ऋजुता—सरलता। आत्मनिग्रह—अपने आपको संयम से रखना। औदार्य—उदारता। आत्मगत भाषण—ऐसा कथन जिसे अपने सिवा और कोई न सुन सके। हूबहू—ज्यों का त्यों। अर्वाचीन—आधुनिक; नवीन। प्रौढ़—पुष्ट, परिपक्व। श्रुति-मनोहर—कानों को अच्छा लगनेवाला। यतो धर्मस्ततो जयः—जहाँ धर्म है वहाँ जय है।